Chap-5

पंचम् अध्याय

मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों का विश्लेषणात्मक अध्ययन

पंचम् अध्याय
: मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों का विश्लेषणात्मक अध्ययन :

प्रास्ताविक :

मैत्रेयी पुष्पा का जन्म 30 नवम्बर, 1944 को अलीगढ़ जिले के सिर्कुरा गाँव में हुआ था। उनके औपन्यासिक लेखन का प्रारंभ "स्मृति दंश" (1990) नामक उपन्यासिका (लघु उपन्यास) से हुआ था। अर्थात् उम्र की छियालीस दिवालियों के बाद उनका औपन्यासिक लेखन शुरु होता है। "स्मृति दंश" के पश्चात् उनका एक लघु उपन्यास "बेतवा बहती रही" सन् 1993 में प्रकाशित होता है। उभय का कथापट "कथा" की दृष्टि से बड़ा मार्मिक है। भावुक पाठकों को भरपूर रुलाने वाला, कलेजा की कोमल कोर से लिखा हुआ। लेकिन उपन्यास को लिखने के लिए कलेजा को कठोर भी बनाना पड़ता है। उसमें "कर्ता" (Creator) की भाँति समय आने पर कठोर और क्रूर भी होना पड़ता है। औपन्यासिक विजन और यथार्थ की गहरी समझ उत्पन्न करने वाली दृष्टि का होना बहुत ही जरुरी है। बिना उसके कलागत ताटस्थ्य नहीं आ सकता। ये सब गुण हमें सर्वप्रथम मैत्रेयी के "इदन्नमम" (1994) उपन्यास में सम्प्राप्त होते हैं। इसी एक उपन्यास से मैत्रेयी हिन्दी उपन्यास – जगत पर छा जाती है, जैसे कभी "मैला आंचल" के द्वारा रेणु रातोंरात हिन्दी कथा-जगत पर छा गये थे। इसके बाद "चाक" (1997), "झूला नट" (1999), "अल्मा कबूतरी" (2000), "अगनपाखी" (2001), "विजन" (2002), कही ईसुरी फाग (2004), "त्रिया-हठ" (2005) और "गुनाह-बेगुनाह" (2011) आदि उपन्यास आते गये और मैत्रेयी ने प्रेमचंद और रेणु के बाद की एक सशक्त लेखिका के रुप में अपना सिक्का गालिब किया। हिन्दी के औपन्यासिक आलोचक इस बात से भौंचक्के रह जाते हैं कि केवल दो दशक में यह कैसे संभव हो सकता है? पर आलोचकों को मैत्रेयी का लेखन काल तो याद है पर उनके भीतर का कथाकार

जो कई-कई बरसों से अपना पिण्ड तैयार कर रहा था वह नहीं याद रहा। अनुभव संपन्नता हासिल करने पर ही मैत्रेयी इस दिशा में अग्रसर हुई है। जिस प्रकार हिन्दी उपन्यास के इतिहास में सन् 1936 का महत्व है, सन् 1954 का महत्व है, सन् 1960 का महत्व है; ठीक उसी तरह उपन्यास साहित्य के इतिहास में सन् 1990 का भी महत्व है, तभी तो सुप्रसिद्ध कथा-आलोचिका डा. रोहिणी अग्रवाल ने अपने ग्रन्थ "स्त्री लेखन : स्वप्न और संकल्प" में एक पूरा का पूरा अध्याय" क्यूं लेती हो थोड़ी-सी रोटी, थोड़ी-सी दया (1990 के बाद का स्त्री-कथा लेखन और स्त्री-प्रश्न : नयी दिशाएं, नये संकल्प") सन् 1990 के बाद के स्त्री-लेखन को दिया है।[1] प्रस्तुत अध्याय में हमारा उपक्रम मैत्रेयीजी के उपन्यासों पर विश्लेषणपरक दृष्टिपात का है। "स्मृतिदंश" एक उपन्यासिका है जिसे हम लम्बी कहानी कह सकते हैं। अतः यहाँ "बेतवा बहती रही" से गुनाह-बेगुनाह तक की उनकी औपन्यासिक-सृष्टि पर विचार किया जा रहा है। ऐसा कहा जाता है कि उपन्यास सम्राट प्रेमचंद अपनी रचनाओं में गांव की स्त्रियां लाए थे, मैत्रेयी अपने लेखन में स्त्रियों का गाँव लेकर आई हैं।[2]

(1) बेतवा बहती रही (1993) :

"बेतवा बहती रही" – बुंदेलखण्ड के आंचलिक परिवेश पर आधारित मैत्रेयी का प्रथम लघु उपन्यास है। प्रकाश उदय के शब्दो में – "स्त्री के एक अनवरत अपमान का एक पूज्य पर्याय है सीता। सीता की एक अनवरत रामकहानी है। इस राम कहानी को मैत्रेयी पुष्पा ने "बेतवा बहती रही" नाम से लिखा है।[3] बेतवा प्रतीक है स्त्री के निरंतर अश्रु बहाने की प्रक्रिया का। "बेतवा बहती रही" में त्रिकाल सक्रियता की अनवरतता है। रामायण-महाभारत की स्त्री भी आंसू बहाती थी, मध्यकाल की सामंतयुगीन नारियों के चेहरे भी अश्रुविगलित

हैं और आज की, इस आधुनिक युग की नारी की नियति भी आंसू बहाने की है। डा. प्रभा खेतान के उपन्यास "आओ पेपे घर चलें" की आईलिन कहती है – औरत कहां नहीं रोती और कब नहीं रोती? वह जितना भी रोती है, उतनी ही औरत होती है।"[4] यह उस अमरीकी महीला का कथन है जो अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र और आधुनिक मानी गई है। सीता के आंसुओ की यह रामकहानी यहाँ उर्वशी की कथा-व्यथा के रूप में कही गई है। डा. वेदप्रकाश अमिताभ ने प्रस्तुत उपन्यास की कथा को "नारी के सहने, झेलने और जूझने की कथा" कहते हुए लिखा है – "मैत्रेयी पुष्पा ने बुंदेलखंड़ी आंचलिक परिवेश में उर्वशी की व्यथा-कथा को कुछ इस तरह से औपन्यासिक रचाव दिया है कि वह नारी मात्र के सहने, झेलने और जूझने की कहानी बन गई है। आंचल में दूध और आंखो में पानी लिए वह सनातन नारी पुरूष-प्रधान व्यवस्था की निरंकुशता से टकराकर लहू-लुहान होती रही है और आंसू से भीगे अंचल पर अपमानज़नक शर्तों के संधिपत्र लिखने के लिए सदैव बाध्य हुई है।"[5]

उपन्यास की कुल कथा इतनी है : उर्वशी "गुलाब के फूल-सी एक मोंडी है। उसका सौन्दर्य अद्भुत है। बुंदेलखंड़ के राजगिरी की वह कन्या है। उसका शैशव विपन्न अवस्था में गुजरता है। जब सर्वदमन नामक युवक के साथ उसका विवाह होता है तो लगता है कि उर्वशी के दु:ख के दिन समाप्त हो जायेंगे। पितृगृह की दारूण गरीबी अब उसके सौभाग्य के आड़े नहीं आयेगी। लेकिन एक दुर्घटना में सर्वदमन की मृत्यु हो जाती है और उसका भविष्य पुनः अंधकारमय हो जाता है। दुर्निवार अद्भुत सौन्दर्य और सामने वैधव्यकी कालिमा। बहुत पहले जैनेन्द्र ने "त्यागपत्र" में मृणाल के अद्वितीय सौन्दर्य के सम्बन्ध में कहा था – "बुआ (मृणाल) का तबका रूप सोचता हूँ, तो दंग रह जाता हूँ। ऐसा रूप कब किसको विधाता देता है। जब देता है, तब कदाचित्

उसकी कीमत भी वसूल कर लेने की मन-ही-मन नीयत उसकी रहती है ।[6] उर्वशी और सर्वदमन के सुखी दाम्पत्य को भी मानो किसीकी नज़र लग जाती है । वह अपने पुत्र देवेश का लालन-पालन करते हुए वैधव्यपूर्ण जीवन बिता सकती थी । उसे दाऊ का स्नेह-सरंक्षण भी प्राप्त था । परंतु उसका भाई अजीत अपराधी मनोवृत्ति का था । माता-पिता की जायदाद में उर्वशी को कुछ देना न पड़े इस उद्देश्य से वह अपनी ही बहन तथा दाऊ पर कई प्रकार के लांछन लगाता है । भारतीय ग्रामीण समाज में एक विधवा का जीवन कितना कष्टप्रद हो सकता है उसका अंदाज लगाया जा सकता है । अपनी कामुकता पर तो कोई काबू पा भी ले, परंतु लोगों की कुटिलता का क्या करें । अजीत की कुटिलता के आगे उर्वशी को झुकना पड़ता है और न चाहते हुए भी बरजोर जैसे नरपशु से विवाह करने पर मजबूर होना पड़ता है । उसके पुत्र को भी उससे अलग किया जाता है । बरजोर कामुक प्रकृति का है । वह स्त्री-मन का नहीं, स्त्री देह का पुजारी है । उसका वासना लिप्त मन उर्वशी को केवल वासना तृप्ति का साधन ही समझता था । अतः उर्वशी जैसी भावुक और संवेदनशील नारी उसके साथ सुखी कैसे रह सकती है । पति के रहते हुए भी वह स्वयं को विधवा ही समझती है । उनके दाम्पत्य जीवन पर गृह-कलेश और शंका-कुशंका के बादल मंडराते रहते है । "त्यागपत्र" के मृणाल के साथ भी यही होता है । फलतः बरजोर सिंह के कहने पर वैद्य उर्वशी की दवाई में विष मिला देता है और यह जहर ही उसकी मृत्यु का कारण बनता है ।

लेकिन मरने से पहले उर्वशी एक ऐसा कार्य कर गुजरती है जिससे ग्रामीण परिवेश की नारी-चेतना को एक नयी दिशा मिलती है । यह तो एक सर्वविदित तथ्य है कि छोटी जातियों में विधवा विवाह होते हैं, परंतु उंची जातियों में उसका चलन नहीं है । उर्वशी का विवाह अपनी मर्जी से नहीं हुआ था । अजीत की कुटिलता के चलते उसे विवश होकर "अनचाहत को संग" करना

पड़ा था। बरजोर जैसे नर-पशु से निबाह करना सरल नहीं था और बरजोर ने ही विष दिलवाकर उसे मुक्त कर दिया। पर मरने से पहले वह अपने बड़े भाई विजय की विधवा का विवाह उदय नामक युवक से कराने में सफल हो जाती है। जो साहस और हिम्मत उर्वशी अपने लिए नहीं कर पायी, वह उसने दूसरों के लिए की।

वैधव्य के विष से उर्वशी परिचित है। अतः विजय की युवा-विधवा के प्रति उसके मन में गहरी सहानुभूति है और परिणाम स्वरूप वह उदय को उसके लिए राजी करती है। बरजोर आदि की ओर से इसका पूरजोर विरोध होता है, परंतु अपने मामले में कमजोर पड़ जाने वाली उर्वशी अन्याय और अत्याचार के विरोध में पूरी प्रगल्भता के साथ सामने आती है – "कह लई सब? तुम हमें काहे के लाने लाए, सो हमें जानने की जरूरत नहीं है। बस, तुम इतनी सुन लो कि हम काहे के लाने आए हैं – अन्याय हम नहीं होने देंगे, हमारे रहते जा अनरथ नहीं हो सकता।"[7]

उर्वशी जो विधवा-विवाह करवाती है उसके संदर्भ में नागार्जुन के "उग्रतारा" उपन्यास का स्मृति में कौंधना अस्वाभाविक नहीं होगा। "उग्रतारा" का कामेश्वर भी एक ऐसा ही नवयुवक है। उगनी विधवा है। फिर भी कामेश्वर उससे विवाह करना चाहता है। गाँव के बूढ़े नहीं चाहते कि उग्रतारा उर्फ उगनी विवाह करें क्योंकि इन विधवाओं के कारण ही उनकी वासनापूर्ति होती है। तब कामेश्वर उगनी को गाँव से भगा ले जाता है, परतुं गाँववाले उसे झूठे केस में फँसा देते हैं और उसे नौ महीने की सजा हो जाती है। इधर उगनी मढिया-सुन्दरपुर के नर-राक्षसों द्वारा बलात्कृत होती रहती है। अंततः एक बूढ़े सिपाही भभिखनसिंह से जबरदस्ती उसकी शादी करवा दी जाती है। भभिमखनसिंह से उगनी को गर्भ भी रहता है, तथापि उपन्यास के अंत में बताया गया है कि

कामेश्वर उगनी को ऐसी अवस्था में भी अपना लेता है क्योंकि लेखक के ही शब्दों में कामेश्वर "नये भारत का नया युवक है, पुराने ढंग का छिछौरा नौजवान नहीं।"[8] प्रस्तुत उपन्यास का उदय भी कामेश्वर जैसा ही नये भारत का नयी सोच रखने वाला युवक है, जबकि उपन्यास में ही ग्रामीण समाज के नवयुवको के संदर्भ में एक टिप्पणी आयी है – "नई पीढ़ी के जवान लरका दूसरे की पीर महसूस नहीं करते, बस अपनी-अपनी सोचत।"[9] लेकिन उदय इनमें अपवाद है।

उपन्यास में एक स्थान पर ग्रामीण-परिवेश में नारियों की (बेटियों की) स्थिति के संदर्भ में एक टिप्पणी आयी है – "बेटी तो मुंह जोहती गैया है रे.....काऊ खूंटा बांध दो। भोली बछिया सी चल दे है, जितै चाहौ उतै ही....."[10] लेकिन प्रस्तुत उपन्यास में इस सोच को एक नया आयाम मिलता है उर्वशी और उदय के माध्यम से। यहाँ इसे भी गौरतलब करना होगा कि उदय बरजोर का ही लड़का है, पर बाप जहाँ राक्षस है वहाँ उदय में मानवीय-मूल्यों की धरोहर हम देख सकते हैं। उदय और मीरा भाई-बहन है किन्तु दोनो संवेदनशील है। मीरा उर्वशी की बाल-सखी है और बरजोर से विवाह के उपरान्त वह उसकी नयी माँ बनती है। मीरा और उदय दोनों पर उर्वशी का अच्छा प्रभाव है।

उपन्यास में कई नये समीकरण हमें प्राप्त होते हैं। ज्यादातर देखा गया है कि दूसरी मैया (स्टेप मधर) का व्यवहार बच्चों के साथ अच्छा नहीं होता, जबकि यहाँ उर्वशी का व्यवहार उदय और मीरा दोनों के लिए अच्छा है। मैत्री और सख्य का व्यवहार है यहाँ। उर्वशी को तो अपने पुत्र देवेश को भी छोड़ना पड़ा था। ऐसी स्थिति में उसके मन में कड़वाहट होनी चाहिए, पर उर्वशी नये जमाने की माँ है। वह सौतेली माँ के "मिथ" को यहाँ तोड़ती है। डा. वेदप्रकाश

अमिताभ ने उपन्यास की समीक्षा करते हुए कहा है कि - "नारी स्वातंत्रय की चेतना अपने स्तर पर रूढ़ियों और अनीतियों का मुखर प्रतिवाद करने में भी कम सार्थक और महत्वपूर्ण नहीं होती। मैत्रेयी पुष्पा की इस कृति से यह भी ध्वनित है कि नारी की लड़ाई अंततः नारी को ही लड़नी है।"[11] डा. वेदप्रकाश की यह बात सौ फी सदी सच है। यहाँ मेरी स्मृति में डा. पारूकान्त देसाई का एक दोहा कौंध रहा है –

"पूछेगा गर तू नहीं, ना पूछेगा कोई।
अश्रु फूटे ना आंख से, घुटने काहे रोय।"[12]

अतः नारी की लड़ाई एक नारी ही उत्कटता और प्रगल्भता से लड़ सकती है। इसकी शुरूआती गुंज हमें इस उपन्यास में सुनाई पड़ती है।

प्रकाश उदय के शब्दों में कहें तो ऐसा उपन्यास में बहुत कुछ हैं, जिसके चलते यह बेतवा के किनारे का है। भाषा. संवाद, नदी, नाव, रीति, विश्वास, जगह-जगह गीत, वहाँ के जहाँ की यह रचना है। जगह के अलावा एक जाति का उल्लेख-भर हुआ लगता है। बहती नाक वाली उम्र में वैरागी के निर्विरोध विवाह कर दिए जाने में यादवपन कहा तो गया है, लेकिन कुर्मीपन, लोधीपन के साथ रखकर उसे भी विशिष्ट होने से बचा लिया गया है।[13] प्रकाश उदय की समीक्षा में हमें "खलपात्र" के वज़न पर "भलपात्र" शब्द मिलता है जो कदाचित् उन्होंने स्वयं मुद्रित किया हो। उपन्यास में यह "सु" और "कु" का विभाजन स्पष्ट रूप से मिलता है। उर्वशी, मीरा, दाऊ, उदय आदि "भलपात्र" या "सु" की कोटि में आते हैं तो अजीत, बरजोर आदि "खलपात्र" या "कु" की कोटि में आते हैं। यह "सु" और "कु" का स्पष्ट विभाजन उपन्यास की एक कमजोरी है ऐसा कहा जा सकता है, क्योंकि उपन्यास में "मानव" का चित्रण अपेक्षित है जो न सौ फी सदी सच्चा होता है, न सौ फी सदी झूठा। "आओ पे पे

घर चलें" की आईलिन को उद्‌धृत करें तो उपन्यास जानवर में मनुष्य और मनुष्य में जानवर खोजने की कला है। इसलिए मुंशी प्रेमचंद लिखते है – "मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूं।"[14] यहाँ "चित्र" शब्द ध्यानार्ह रहे, चित्र बनाने में एक यत्न होता है, एक कोशिश होती है। अतः चित्र कभी सौ फी सदी सही नहीं होता है। जितना ही वह वास्तव के करीब होगा उतना ही उसका कलाकार बड़ा माना जाएगा।

"बेतवा बहती रही" में मैत्रेयी खुल रही है। उनका वह बुंदेलखण्ड़ी अंदाज, वहाँ की मिट्टीं, उसकी खुशबू, वहाँ की नारियां, बोली-बानी, गीत-लोकगीत, उसकी आंचलिकता ये सब यहाँ शनैः शनैः ही खुल रहा है। उसका उघाड़ तो आगे "इदन्नमम", "चाक", "अल्मा कबूतरी" आदि में मिलेगा।

(2) इदन्नमम (1994) :

"इदन्नमम" मैत्रेयी पुष्पा का वह उपन्यास है जिसके प्रकाशन से वह समकालीन हिन्दी लेखिकाओं की प्रथम पंक्ति में आ जाती है। इसके प्रकाशन के पूर्व उनकी कुछेक कहानियाँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं। मैत्रेयी चाहती थीं कि उनकी कहानी "हंस" में भी प्रकाशित हों। दो-एक बार उनकी कहानियाँ "हंस" से लौटायी भी गयीं। इसी संदर्भ में उनका मन्नूजी के माध्यम से राजेन्द्र यादव से मिलना हुआ। राजेन्द्र यादव ने उनके भीतर बैठे हुए कथाकार को पहचाना और जाना कि उनके पास बुंदेलखण्ड के ग्रामीण जीवन के जो अनुभव हैं, वह उनकी पूंजी है, अपनी ज़मीन है और उसी को लेकर उन्हें लेखन के क्षेत्र में आना है। "इदन्नमम" के आसपास ही सुरेन्द्र वर्मा का उपन्यास "मुझे चांद चाहिए" प्रकाशित हुआ था। उस उपन्यास की नायिका वर्षा वसिष्ठ को डा. पूरबी देसाई ने लेखक की "लोहसंकल्पिनी मानस संतान" कहा है।[15] उपन्यास में शाहजहाँपुर की वर्षा वसिष्ठ जब एन.एस.डी. (नेशनल

स्कूल आफ ड्रामा) में प्रवेश के लिए साक्षात्कार देने जाती है, तब एन.एस.डी. के निर्देशक डा. अटल ने वर्षा वसिष्ठ को "अनकट डाईमण्ड" कहा था, हीरा जो अभी तराशा नहीं गया है। मैत्रेयी पुष्पा भी एक ऐसा ही "अनकट डाईमण्ड" थीं। हिन्दी साहित्य के सद्भाग्य से इस हीरे को तराशने का काम राजेन्द्र यादव ने किया। और उसका परिणाम है – "इदन्नमम"।

उपन्यास के पृष्ठ 217-218 पर "इदन्नमम" का अर्थ हमारे सामने स्पष्ट होता है। उपन्यास की नायिका मंदा अपने कुछ प्रश्नों को लेकर कायले वाले मठ के महंत महाराज के पास जाती है। रात के समय महाराज मंदा को पारीछा के प्रधान टीकमसिंह की संघर्ष-कथा सुनाते हैं। प्रातःकाल महाराज के शिष्य भृंगुदेव हवन करते हैं। उसमें महाराज का स्वर गूंजता है –

"औ म् भूर्भुवः स्वः अग्नि ही ऋषि पवमानः पांचजन्य
पुरोहितः तमीमहे महागमयः स्वाहा।
इदं अग्ने पवनाय इदन्नमम॥"[16]

मृगुदेव, महाराज इस मंत्र के बाद इदन्नमम बोलते हैं क्या अर्थ है इसका? जानते हो? "मंदा ने भृगुदेव से पूछा था और भृगुदेव ने इसका जवाब दिया था – " "यह मेरा नहीं। जो कुछ मैं अर्पण कर रहा हूँ यह मेरा नहीं।" मंदा आश्रम से जाते हुए भृगुदेव को कहती है –" तो इदन्नमम"।[17]

उपन्यास में लेखिका ने जो कुछ लिखा है, कहा है, वह "इदन्नमम" है, अर्थात् वह उनका नहीं है। बुंदेलखण्ड़ का लोकजीवन या ग्रामीण-जीवन यहाँ अपने यथार्थ स्वरूप अरोमानीरूप में उभरकर आया है। इस तरह यह मैत्रेयी का नहीं है, और मंदा श्री भृंगुदेव को कहती है – "इदन्नमम" - अर्थात् यह मेरा नहीं है। अभिप्राय यह हुआ कि इसमें जो कुछ भी कहा गया है, जिनके बारे में कहा

गया है, एक निश्चित समय-सीमा में, वह बुंदेलखण्ड के ग्रामीण स्त्री-पुरूषों का जीवन है, जो मैत्रेयी और मंदा के द्वारा अभिव्यंजित हुआ है।

उपन्यास में बोली-बानी बुंदेलखण्ड़ की है। कहावत – मुहावरे - कुछ विशिष्ट शब्द-प्रयोग, यह सब बुंदेलखण्ड़ का है। अतः पाठक या आलोचक इसे आंचलिक उपन्यास मानने लगे तो आश्चर्य न होगा। परंतु हम भी यहाँ डा. राजबहादुर सिंह की तरह मानते हैं कि उसका शिल्प, अन्तर्वस्तु, आंचलिक उपन्यास का नहीं है।[18] रेणु का आभास देते हुए भी वह प्रेमचंद, नागार्जुन के नजदीक का है। उपन्यास का केन्द्रीय पात्र मंदाकिनी उर्फ मंदा है। प्रारंभ से लेकर अंत तक उपन्यास में मंदा ही मंदा है। जब कि आंचलिक उपन्यास में ऐसा कोई केन्द्रीय पात्र नहीं होता। दूसरे उपन्यास समस्यामूलक है, आंचलिक उपन्यास समस्यामूलक भी नहीं होता। प्रेमचंद के उपन्यासों में भी गाँव है, परंतु वह स्वाधीनता-पूर्व का गाँव है। कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी प्रकार के जीवन-मूल्यों में जीता हुआ गाँव; जबकि यहाँ जो गाँव है आजादी के लगभग चालीस साल बाद का गाँव है, इक्कीसवीं शताब्दी का स्वागत करता हुआ गाँव, राजनीति और हरामीपन में पगा हुआ गाँव, चालाकियों में शहरीजनों के भी कान काटने वाले गाँव। राजनीतिक माफियाओं का गाँव।

उपन्यास 424 पृष्ठ और छब्बीस अध्यायों में विभक्त है। "राग दरबारी" का प्रथम संस्करण भी 424 पृष्ठों का ही था। उपन्यास का प्रारंभ होता है तब मंदा की उम्र तेंरह साल की होती है, परन्तु उपन्यास के अंत में वह बाईस-तेबीस साल की युवती हो गई है – जूझारू, जीवटवाली और संघर्षी। श्यामली में जिस सत्रह-अठारह साल के मकरन्द के साथ सगाई हुई भी और मन्दा जिसे चाहती थी वह मकरन्द अब डा. मकरन्द बनकर सोनपुरा में आ रहा है, ऐसा संकेत या संदेश हमें उपन्यास के अन्त में मिलता है। उपन्यास के अंतिम

वाक्य है – "गहरे उच्छ्वासों के बीच तेज गति से चल दी मन्दाकिनी । किसीकी पदचाप अब भी उसके पीछे है ।"[19]

इस समग्र कथा को हम तीन भागों मे विभक्त कर सकते हैं – (1) वह कथा जिसमें बऊ, सोनपुरा के महेन्द्रप्रताप सिंह की माता और उपन्यास-नायिका मन्दाकिनी की दादी, अपने पुत्र की हत्या और उसके बाद माता के रतन यादव के साथ भाग जाने से और जमीन जायदाद के कारण नाबालिक मन्दा का कब्जा मांगने के कारण, सोनपुरा छोड़कर रातोंरात श्यामली पंचमसिंह के यहाँ आ जाती है । पंचमसिंह बऊ को शरण तो देते है, परंतु मंदा को पुलिस सब जगह ढूंढ रही है । अतः उसे पुलिस से छिपाकर रखने के लिए जगह-जगह, गाँव-गाँव डोलना पड़ता है । बारह अध्याय तक यह कथा चलती है । (२) तेरहवें अध्याय में मन्दा अपने गाँव सोनपुरा वापिस आ जाती है क्योंकि मन्दा की मैया ने अपना केस वापस ले लिया था और मन्दा को कहीं छिपने की जरूरत नहीं थी । पर सोनपुरा पहुंचने पर बऊ को पता चलता है कि श्यामली वाले गोविन्दसिंह ने उनकी सारी जमीन अभिलाखसिंह को बेच दी थी । मन्दा और बऊ के साथ बहुत बड़ा धोखा हुआ था । उनकी सारी जमीन-जायदाद और खेत हड़प लिये गये थे । उसके बाद मन्दा का आजीविका के लिए जो संघर्ष है उसकी कथा है । यह संघर्ष उसका अपने लिए है । (३) परंतु सोलहवें अध्याय से एक नयी मन्दा का संघर्ष शुरू होता है । कोयले वाले महाराज की दीक्षा के कारण मन्दा का कायाकल्प हो जाता है । अब उसकी लड़ाई समग्र सोनपुरा और उसके आसपास के गाँव, वहाँ के लोग, महेनतकश मजदूर, यूपी-बिहार से आने वाले राऊत और आदिवासी मजदूर इन सबकी लड़ाई का जिम्मा मंदा उठा लेती है और वहाँ से शुरू होता है एक नया संघर्ष जो ठेकेदारों –

माफियाओं – पुलिसकर्मियों और राजनेताओं के खिलाफ है । यह संघर्ष छब्बीसवें अध्याय तक, अर्थात् उपन्यास के अन्त तक चलता है।

इन सबके समानान्तर एक प्रेमकथा चल रही है, जो प्रेमकथा मकरन्द और मंदा के बीच की प्रेमकथा है। यह प्रेमकथा किशोरावस्था से शुरू होती है और युवावस्था तक चलती है। मंदा जब श्यामली में पंचमसिंह दादा के यहाँ थी, तब मकरन्द और मंदा का प्रेम शुरू होता है। मकरन्द तब बारहवीं कक्षा का छात्र था। वह पंचमसिंह दद्दा के पुत्र विक्रमसिंह का पुत्र है। सबकी सलाह से मंदा-मकरन्द की सगाई भी हो जाती है पर बाद में रतन यादव के डर से कि कहीं वह राक्षस उनके एकमात्र इकलौते पुत्र को मार न डाले वह सगाई टूट भी जाती है। परंतु इलाहाबाद जाने से पूर्व मकरन्द मन्दा को कौल देता है कि वह अपना वादा जरूर निभायेगा। उसके बाद मकरन्द तो अपनी डाक्टरी की पढ़ाई में खो-सा जाता है और इधर मन्दा श्यामली से अपने गाँव सोनपुरा आ जाती है। बीच-बीच में मकरन्द के पत्र आते हैं। ये पत्र ही मन्दा के प्रेम को संबल प्रदान करते हैं। और उपन्यास के अंत में कदाचित् अपना वह कौल पूरा करने के लिए मकरन्द आ रहा है, डाक्टर मकरन्द बनकर। उपन्यास के अन्त में मन्दा का एक और सपना भी पूरा होते हुए दिखाई दे रहा है। मन्दा के पिता एक आदर्शवादी-प्रगतिवादी आदमी थे और अपने गाँव सोनपुरा में सरकारी अस्पताल बनवाने का उनका सपना था। अस्पताल का मकान भी बन गया था और उसके उद्घाटन समारोह के समय ही भीड़ और घोंघाट - शोरबकोर में महेन्द्रसिंह की हत्या करवा दी जाती है और वह सपना अधूरा ही रह जाता है। श्यामली से सोनपुरा आ जाने पर मन्दा पुनः इस दिशा में सक्रिय हो जाती है और शहरों के सरकारी दफ्तरों के खूब चक्कर काटती है, पर सब पत्थर पर पानी की तरह व्यर्थ हो जाता है। तब मन्दा प्रदेश में होनेवाले चुनावी माहौल का फायदा उठाती है और राजा साहब चुनाव जीतने के

लिए सोनपुरा में डा. इन्द्रनील को एक कम्पाउन्डर के साथ, तमाम असबाब और दवाइयों सहित भेज देते हैं। मन्दा को पहले तो लगता है कि डा. मकरन्द ही आये होगें, पर डा. इन्द्रनील को देखकर उसके सपने का हल्का-सा आघात लगता है। हल्का-सा इसलिए कि डा. इन्द्रनील के आने से मन्दा का एक और सपना तो पूरा होता हुआ नजर आता है। डा. इन्द्रनील अपने सेवाभावी स्वभाव, तत्परता, कर्तव्य परायणता और ग्रामीण प्रतिश्रृतता के कारण कुछ ही दिनों में सोनपुरा तथा आसपास के गाँवों के लोगों का दिल जीत लेते हैं। परन्तु सपना अभी अंकुराया भी नहीं था कि उसके मुरझाने के दिन आ जाते हैं। राजा साहब अपने चुनावी गणित के हिसाब से दूसरी जगह उसका तबादला करवा देते हैं। मन्दा को दुःख भी होता है और राजनेताओं से हिकारत भी। परन्तु कम्पाउण्डर अपनी बात का धनी निकलता है। मन्दा के पूछने पर कि चुनाव तो हो गया तो आप कब जाएंगे कम्पाउन्डरजी? कम्पाउन्डरजी कहते हैं कि वह सोनपुरा से कभी नहीं जाएंगे, यथा – "हमें उन्नति-तरक्की की फिकर नहीं है। कम्पाउण्डर ही तो रहना है। तबादला होगा तो नौकरी छोड़ देंगे। इन लोगों के इशारे पर कब तक नाचते रहें? जितनी तनख्वाह मिलती है, इतना ही तो यहाँ रहकर भी मिल जाएगा। गुजर हो जाएगी।"[20]

उपन्यास को प्रसादान्त कह सकते हैं – न एकदम सुखान्त और न एकदम दुःखान्त। मन्दा का आधा सपना पूरा हो गया है। अस्पताल खुल गया है और कम्पाउण्डर के रुप में आधा डाक्टर भी मिल गया है और डा. मकरन्द के आने का संकेत भी मिल चुका है। यदि डा. मकरन्द आते है तो मन्दा की खुशी दुगुनी हो जाएगी। पिता के सपने के महोरने की खुशी और अपने प्रेम को पा लेने की खुशी। उपन्यास का खलपात्र – अभिलाखसिंह सुगना द्वारा मारा जाता है। सुगना चाकू मारके उसकी हत्या कर देती है, पर बाद में सुगना भी

मिट्टी का तेल छिड़कर स्वयं को जला लेती है और अन्ततः अस्पताल में उसकी मृत्यु हो जाती है। सुगनी के साथ अभिलाखसिंह ने कुकर्म किया था और उससे उसे गर्भ भी रह गया था। सुगना मन्दा की ही प्रतिलिपि थी। मन्दा की बचपन की सहेली। मन्दा कुछ पढ़ी-लिखी और सुगना अनपढ़ पर बहुत कुछ गुनने वाली। अन्याय, अत्याचार के खिलाफ मन्दा की ही तरह ताल ठोककर खड़ी हो जाने वाली एक जूझारू, जीवटवाली लड़की, एक शेरनी। उसका यों मर जाना, मन्दा को ही नहीं, गाँववालों को ही नहीं, पप्पू (पप्पू मन ही मन सुगना को चाहने लगा था, उसके संकेत उपन्यास में मिलते है।) को ही नहीं, संवेदनशील पाठकों को भी रूला जाता है।

ग्रामीण-जीवन में जहाँ स्त्री-पुरूष के बीच अनैतिक संबंधों की जटिलता मिलती है; वहाँ विशुद्ध प्रेम की, निश्छल, निर्द्वन्द, पवित्र प्रेम की भीनी-भीनी खुशबू भी महसूस कर सकते हैं। अतः ग्रामीण जीवन की लगभग तमाम कहानियों में हमें ऐसे प्रेम के किस्से भी श्रुतिगोचर होते हैं। "गोदान", "मैला आंचल" आदि सभी में यह मिलता है। नागार्जुन के उपन्यास भी अपवाद नहीं है। तो मैत्रेयी के उपन्यासों में तो उसे आना ही था। प्रस्तुत उपन्यास में मन्दा-मकरन्द की प्रेम कहानी, कुसुमा और ताऊ की प्रेम-कहानी, सुगना और पप्पू की प्रेम कहानी, भृगुदेव के सुगना के प्रति आकर्षण की कहानी इन मृसण-मीठे प्रेम-सम्बन्धों की महक को बिखेरती हैं। उर्दू का वह शेर स्मृति में कौंधे बिना नहीं रहता है –

"कोई हद ही नहीं यारब, मुहब्बत के फसाने की;
सुनाता जा रहा है जो, जिसको जितना याद आता है।

इन लहलहाती प्रेम-कहानियों से ही तो ग्रामीण जीवन की कटुता, दरिद्रता, शोषण से दो-दो हाथ किए जा सकते है।

पूर्ववर्ती पृष्ठों में निरूपित किया गया है कि "इदन्नमम" की कथा को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है – १. बऊ का मन्दा को लेकर डांव-डांव डोलना, २. मंदा का अपनी जीविका हेतु का संघर्ष और ३. "इदन्नमम" – अर्थात् मंदा का वह संघर्ष जो उसने अपने लिए नहीं किया था, दूसरों के लिए किया था, दूसरों को न्याय मिले इस हेतु किया था, दूसरों के शोषण और अत्याचार के दमनचक्र को भेदने के लिए किया था और यहाँ हमें उस मंदाकिनी के दर्शन होते हैं जो रोना नहीं जानती, झुकना नहीं जानती, जूझना ही जानती है, आगे ही बढ़ना जानती है, रास्ते का यदि "डेड एण्ड" आ जावे तो नये विकल्पों को तलाशना और तराशना जानती है।

प्रथम भाग की कथा उपन्यास के तेरहवें परिच्छेद तक चलती है। प्रथम परिच्छेद में हम देखते हैं कि बऊ (मंदा की दादी) मंदा को लेकर श्यामली आ गई है। बऊ और मन्दा के उपरान्त इस अंश के अन्य पात्रों में गनपत, पंचमसिंह (दददा), देवगढ़वारी (पंचमसिंह की धर्मपत्नी), प्रेम (मंदा की माता), रतन यादव, सुगना, जगेस्सर कक्का, गोविन्दसिंह कक्का (पंचमसिंह के भाई), महेन्द्रसिंह (मन्दा के पिता, जिनकी हत्या हो गई है), श्री कमला प्रसाद (उत्तरप्रदेश के मुख्यमंत्री), मोदी, चीफ साब (अनवर हुसैन – मोदी और चीफ दददा के जिगरी दोस्त है), अमरसिंह (दददा के सबसे छोटे भाई जिन्हें परिवार में सब "दाऊजी" कहते हैं), डबल बब्बा (लखना डाकू), मिठू कक्का, ढड़कोले चमार, श्यामलाल, अर्जुन, पन्नी माते, शकील (अनवरी बुआ का लड़का), विक्रमसिंह (दरोगाजी – दददा के पुत्र), मकरन्द (विक्रमसिंह का लड़का और दददा का पोता), यशपालसिंह (गोविंदसिंह के पुत्र), कुसुमा भाभी (यशपालसिंह की पत्नी), कैलाश सिंह (मन्दा के दूर के रिश्ते के मामा जो

मन्दा को बलात्कृत करते हैं), दारोगिन (विक्रमसिंह की पत्नी), मोदिन काकी, आदि की गणना कर सकते हैं।

उपर्युक्त पात्रों में से कुछेक का परिचय अत्यावश्यक है। उन पात्रों में हम पंचमसिंह (दद्दा), मोदी, चीफ साहब, रतन यादव, गोविन्दसिंह, अमरसिंह (दाऊजी) डबल बब्बा (लखना डाकू), विक्रमसिंह दरोगा, मकरन्द, यशपाल, कैलाशसिंह आदि पुरूष पात्र और मंदा,प्रेम, बऊ, देवगढ़वारी, कुसुमा भाभी आदि नारी पात्रों को उल्लेख्य समझते हैं। सुगना की भूमिका द्वितीय कथा-भाग में आती है, यहाँ तो वह मंदा की स्मृतियों में जरा-तरा आ जाती है।

पंचमसिंह दद्दा, मोदी और चीफ साहब ये तीन श्यामली गाँव के दिग्गज हैं, स्तम्भ हैं, बल्कि उसकी शान है। वैसे गाँव में कुछ अंग्रेजी पढ़े-लिखे लड़के हैं, पर सरकारी अमलों से बात करने का शऊर तो ये तीन ही रखते है।[21] ये तीनों पुराने जमाने के, पर नये जमाने क स्वागत में तैयार ऐसे न्याय, विवेक और बुद्धिशील हैं। पूरे ज्वार में बऊ को केवल दद्दा पर ही भरोसा था कि फक्त वे ही उनकी "मोंड़ी" को बचा सकते हैं, उसकी रक्षा कर सकते हैं। ये तीनों परम मित्र है। गाँव की प्रगति के सभी कामों में ये तीन एकमत होते है। गाँव के स्त्री पुरूष और नौजवान भी उनकी इज्जत करते हैं। गाँव में उनका एक दबदबा है। यह उस समय की बात है जब मूल्यों और मर्यादाओं का टूटना शुरू नहीं हुआ था। पुराने होते हुए भी दद्दा मानवीय भावों और उसकी कमजोरियों को पहचानने का माद्दा रखते हैं, तभी तो पूरे परिवार में कुसुमा भाभी का पक्ष लेने वाले ओर उसके साथ न्याय करने वाले वे अकेले वीर है। चीफ साहब मुसलमान हैं पर लोग उनकी बहुत ही इज्जत करते है, वे भी हिन्दुओं के तीज-त्यौहारों में बढ़-बढ़कर हिस्सा लेते हैं। गाँव में कौमी एकता पूरी तरह से लागू है और उसके मूल में ये तीन महानुभावों की जोड़ी है।

रतन यादव इलाके का छटा हुआ बदमाश है । किसी प्रकार वह महेन्द्रसिंह की विधवा प्रेम को अपने प्रेमजाल में फांस लेता है । रिश्ते में वह प्रेम का जीजा होता है । प्रेम रतन यादव को चाहती थी । पति की हत्या के बाद वह उस प्रकार का नेग-धरम नहीं निभा पाती, जिसका निर्वाह बऊ ता जिन्दगी करती रही है, वह अपनी जवानी पर काबू नहीं रख पाती । तभी बऊ अपनी इस बहू के लिए वेश्या, रंडी, बेड़िनी जैसे गालीवाचक शब्दों का प्रयोग करती है । रतन यादव प्रेम को भगा ले जाने में सफल हो जाता है । यह सब वह महेन्द्रसिंह की जमीन-जायदाद को हड़पने के लिए करता है । बाद में वह प्रेम को भी छोड़ देता है और उसकी शादी अपने रिश्ते के किसी सम्बन्धी दुहाजू-तिहाजू से करा देता है और यौवन से मदमाती प्रेम की स्थिति बहुत ही जर्जर हो जाती है । उसके चेहरे का नूर उड़ जाता है । प्रेम-वंचना उसे कहीं का नहीं रख छोड़ती । "माया मिली न राम" वाली स्थिति में वह निरंतर झूरती रहती है । उसकी ममता उछाल मारती है, मंदा को पाने के लिए, पर जब उसे ज्ञात होता है कि मन्दा की सगाई अच्छे घर-वर के साथ हो रही है, तब रतन यादव के डर को वह पी जाती है और मंदा को पाने के लिए उसने जो दावा किया था उसे वापस ले लेती है, जिसके कारण बऊ और मन्दा दर-दर की ठोकरें खा रहे थे ।[22]

गोविन्दसिंह कक्का पंचमसिंह के भाई हैं, पर प्रकृति एकदम विपरीत है । हर बात में हिसाब-किताब रखने वाले । मंदा की सगाई मकरन्द से होती है, यह भी उनको पसंद नहीं था, क्योंकि मकरन्द दद्दा के पुत्र विक्रमसिंह का लड़का था । उसका कहना था कि वे लोग बऊ को मुकदमा लड़ रहे है तो मंदा की जमीन जायदाद उनको मिलनी चाहिए । दद्दा ने मंदा की सगाई मकरन्द से करवाई थी उसमें यह सब हिसाब नहीं था । मन्दा मकरन्द को चाहती थी और बऊ तथा मंदा की रजामन्दी से ही यह सगाई हो रही थी । गोविन्दसिंह बड़े घाघ और मुत्सद्दी किस्म के आदमी है । धोखाधड़ी उनकी फितरत है ।

मुकदमे के कागजों में अँगूठा लगवाने के बहाने वह बऊ का अंगूठा ऐसे कागज पर लगवा लेते हैं जिसके चलते वे उनके खेत अभिलाखसिंह को बेच देते हैं। मन्दा और बऊ को तो इसका पता तब चलता है, जब वे श्यामली से सोनपुरा आते हैं, कि अब वे कंगाल हो चुके हैं।[23]

अमरसिंह (दाऊजी) को बचपन में तपेदिक हो गई थी। तबसे उनका शरीर बराबर नहीं पनपा था। अतः उनका ब्याह भी नहीं हुआ था। लोग उनको बाल-ब्रह्मचारी मानते हैं पर कोई उनकी भावनाओं पर विचार ही नहीं करता है। कुसुमा गोविन्दसिंह के सुपुत्र यशपाल की पत्नी है, पर यशपाल पत्नी-धर्म नहीं निभाता, धन-संपत्ति की लालच में वह दूसरी पत्नी ले आता है। कुसुमा भाभी की घोर उपेक्षा होती है। "देह धरी है तो देह का हक्क भी होता है" और यह हक्क कुसुमा भाभी को मिलता है दाऊजी द्वारा। बऊ और मन्दा के साथ गाँव-गाँव, जंगलों में डोलते हुए, एकान्त में इनके देह मिल जाते हैं और आत्माएँ भी।[24] दाऊ से कुसुमा भाभी को गर्भ भी रहता है, तब सारा घर उनके खिलाफ हो जाता है, पर दादा न्याय करते हैं और दाऊजी के न रहने पर उनका हिस्सा भी वह कुसुमा भाभी को दिलवाते हैं।[25] कैलाशसिंह मन्दा के दूर के मामा हैं। जब मन्दा, बऊ और कुसुमा को छिपने के लिए बिरगवां जाना पड़ता है तब मन्दा की बीमारी में हालचाल जानने के बहाने कैलाश मामा मन्दा के पास पहुंच जाते हैं और एकान्त और मन्दा की कमजोरी के चलते वह उस पर बलात्कार गुजारते हैं।[26] उस समय कुसुमा भाभी आ जाती है और कैलाससिंह की बुरी तरह से पिटाई करती है। वह किसी तरह जान बचाकर भाग जाता है। तब कुसुमा भाभी मन्दा को जो हिदायत देती है वह ध्यानार्ह रहनी चाहिए - "बिन्नू, अपने मन में तनिक भी भय मत लाना। झिझक हिचक में मत रहना। जो हुआ उसे भूल जाना। डर मत मानना कभी। जिन्दगानी में, इतनी बड़ी जिन्दगानी में

अच्छा-बुरा घट जाता है बिटिया, उसके कारन मन में गाँठ लगाने से क्या फायदा? जो तुमने किया ही नहीं, उसके लिए अपने को दोसी क्यों मानना? उस कुकरम की भागीदार, मन्दा, तुम तो बिल्कुल नहीं। तनक देर पहले और आ जाते हम, तो खसिया बना देते नासपिटे को।"[27] यहाँ कुसुम भाभी का इस घटना को लेकर जो रवैया है वह बलात्कार की इस समस्या को एक नया आयाम प्रदान करता है।

इसके बाद मन्दा, बऊ और कुसुमा भाभी श्यामली लौट आते हैं। तब तक में प्रेम ने भी अपना केस वापस ले लिया था, अतः बऊ, गनपतकाका और मन्दा अपने गाँव सोनपुरा आ जाते हैं। उसके बाद की जो कथा है उसमें जमीन-जायदाद के चले जाने पर, मन्दा आजीविका के लिए संघर्ष शुरू करती है। पहले फुरसत के समय में मन्दा बऊ को रामायण का पाठ सुनाती थी। अधिक शिक्षा न होने पर भी वह रामायण के नाना प्रसंगों को बढ़िया ढंग से अर्थ देती थी। अपने उस हुनर का प्रयोग अब वह आजीविका कमाने के लिए करती है। कथा बांचती और अर्थाती है और उसके बदले में लोग चढ़ावे में जो देते हैं उसमें उन दोनों की गुजर-बसर हो जाती है। गोविन्दसिंह ने एक खेत छोड़ दिया था, उससे भी खाने भर को अनाज दाना मिल जाता था। सुगना से मन्दा का बहनापा गहराता जाता है। जगेसर काका अभिलाखसिंह की सौबत में अब बिल्कुल बदल गए हैं। मन्दा मकरन्द की याद को अपने दिल में संजोए किसी तरह जी रही थी। तभी कोयलेवाले महाराज से मन्दा की गोष्ठी होती है। महाराज मन्दा के जीवन को एक नया आयाम देते हैं। जीने का एक नया मकसद मन्दा को मिल जाता है। यहाँ से सचमुच में "इदन्नमम" की कथा शुरू होती है।

कोयले वाले महाराज मन्दा को पारीछा के प्रधान टीकमसिंह के आंदोलन की कहानी सुनाते हैं। जनहठ के सामने राजहठ को झुकना पड़ता है

।[28] केस का परिणाम टीकमसिंह के पक्ष में आया । काम तो वे ही हुए जो सरकार चाहती थी, लेकिन हुए टीकमसिंह की शर्तों पर । जमीन बिकी, लेकिन चौगुनी कीमत पर । रोजगार मिला तो पारीछा थर्मल प्लाटं के आसपास बसे गाँवो के निवासियों को । भराई-ढुलाई में प्रभावित क्षेत्र के ट्रैक्टर लगाए गए । अभिप्राय यह कि आसपास के क्षेत्र के लोगों को रोजी-रोटी मिलने लगी । मन्दा को महाराज ने यही दीक्षा दी कि उसे भी अभिलाखसिंह जैसे लोगों से निपटने के लिए वही रास्ता अख्तियार करना होगा । यहाँ से मन्दा के जीवन की दिशा ही बदल जाती है । अब सोनपुरा और उसके आसपास के गाँव के लोगों की सेवा ही उसके जीवन का मकसद बन जाता है । अभिलाखसिंह अपने ट्रेसर के लिए बाहर से – बिहार और यू.पी. से मजदूर बुलाता था, ता कि उसकी शोषण-लीला में कोई रूकावट न आवे । लोकल मजदूर आगे चलकर कोई मुसीबत खड़ी कर सकते थे । अभिलाखसिंह उन मजदूरों को कम मजदूरी देता है, रात-दिन मजदूरी करवाता है, उनका यौन-शोषण करता है, उनको दवा के बदले दारू देता है, उनके व्यसनों को बढ़ावा देता है, लोगों के अन्य ठेकेदारों के पैसे मारता है और पैसा चुकाने में हिले-हवाले करता है । जगेसर के भी उसने कई हजार रूपये उसने दवा लिए है और इसी लिए जगेसर भी उससे दबकर रहता है । अभिलाखसिंह छोटा-मोटा भू-माफिया है । भाईजी भी पहाडों पर ट्रेसरों का काम करते हैं, पर वह सिन्धी व्यापारी है और व्यापार को व्यापार की तरह चलाते हैं । जबान मिठी है पर अपने शत्रु और विरोधी पर कब वार करना चाहिए, उस कला में माहिर है । मन्दा जब भाईजी के पास जाती है अपनी समस्या को लेकर, तब वह बड़े प्यार से उसे समझा देते हैं कि उनके यहाँ काम पाने के लिए ट्रैक्टर का होना बहुत जरूरी है । द्वारका काका तथा प्रधान से मिलकर मन्दा ग्रामीण लोगों की एक सभा करती है, उन्हें आपस में मिलाती है, उनके लाभ और हित किसमें है, वह समझाती है और आपस में

चन्दा करके ट्रेक्टर लाने का संकल्प सबके सामने रखती है। गाँव की स्त्री-शक्ति एकत्रित होती है और जिससे जो बन पड़ता है – रूपय, पैसे, गहने – देते हैं। परभू नाई की माँ ने इस पहाड़ की लड़ाई में अपना एक बेटा खोया था, वह अपना पूरा घर खोद डालती है और पुरखों के समय की सोनमुहरों को ढूंढकर ही दम लेती है। जो रकम इकट्ठा होती है उसमें सिंह-योगदान परभू की माँ का होता है। परभू भी ट्रेक्टर चलाना सीख लेता है और अंततः अनेक बाधाओं के चक्रव्यूह को भेदकर ट्रैक्टर आता ही है।[29] एक शेर स्मृति में लहरा रहा है –

"इरादों की बुलंदियों के आगे कुछ भी मुहाल नहीं;
बस दो बातें है, इरादा हो और वह पक्का हो।"[30]

मन्दा अपना यह लौह-संकल्प पूरा करती है। अभिलाख और जगेसर देखते रह जाते हैं। ज्यों-ज्यों मन्दा मजबूत बनकर उभरती है, इनके हौंसले पस्त होते जाते हैं और उसी रूप में उनकी बौखलाहट भी बढ़ती जाती है।

उपन्यास के इस भाग के प्रमुख पात्र हैं मन्दा, बऊ, प्रेम, सुगना, द्वारिका कक्का, प्रधान, जगेसर, अभिलाखसिंह, भाईजी, कोयलेवाले महाराज, ठकुराइन, भृगुदेव, राजा साहब, डा.इन्द्रनील, उनका कम्पाउण्डर, डा.मकरन्द, दरोगा दीवान, अहल्या राऊतिन, लीला राऊतिन, अभिलाखसिंह की रखैल, गनेसी दददा, तुलसिन, अहल्या की मां, पप्पू, द्वारिका कक्का का लड़का, आदि-आदि।

मन्दा जिन-जिन लोगों से चन्दा लेती है, बाकायदा उनका एक लिस्ट तैयार करवाती है। फिर भी कुछ रकम कम पड़ जाती है तो सारा पैसा चालीस दिन के लिए बैंक में रखकर उसकी पूर्ति का प्रयास होता है।[31] ट्रैक्टर आता है और गाँवभर के लोगों को भैयाजी के यहाँ काम मिलता है। इस प्रकार गाँव की

बेरोजगारी का प्रश्न मन्दा द्वारिका काका और प्रधान काका की सहायता से हल करती है। जब लोगों के पास दो पैसे आते है तो उनकी माली हालत सुधरती है, साथ ही साथ नयी सोच भी विकसित होती है। प्रेम भी मन्दा को पचास हजार की रकम देती है यह कहकर कि यह उसके बाप के ही पैसे हैं। मन्दा पहले तो मना कर देती है, पर फिर बहुत इसरार करने पर रख लेती है और उन पैसों से दूसरा ट्रैक्टर भी ले आती है ताकि गाँव की खुशहाली डबल हो जाए।[32]

उपन्यास के इस खण्ड की मुख्य घटनाओं में निम्नलिखित मुख्य हैं – मन्दा और बऊ का श्यामली से सोनपुरा आना, अपनी बदहाल बखरी को देखकर दु:खी होना, जगेसर के द्वारा यह मालूम होना कि उनके खेत तो गोविन्दसिंह कक्काजी ने अभिलाखसिंह के हाथों बेच दिए हैं और अब वे, जमीनदार सुभागसिंह का खानदान, पूरी तरह से कंगाल हो चुके हैं, प्रथमत: मन्दा को धक्का पहुँचता है, पर फिर शनैः शनैः ही साधारणता की ओर लौटती है, प्रेम रुपये भेजती है जिसे बऊ वापस कर देती है, रामायण की कथा और भजन-कीर्तन के द्वारा आजीविका कमाने का मन्दा का विचार, दूसरी ओर अस्पताल खुलवाने के प्रयत्न भी जारी, एम.एल.ए तक अर्जी पहुंचाना, पर व्यर्थ, उस सपने का बिखरना, श्यामली से मिट्ठु का आना और पंचमसिंह दद्दा की बदहाली की बात बताना, अयोध्याकांड के उपरान्त श्यामली ही नहीं दूसरे गाँवों में भी कौमी-एकता में भड़का होना, चीफ का गाँव छोड़कर शहर जाना, आतंकवाद का बढ़ना, ग्रामीण परिवेश में गंदी राजनीति का फैलना, मन्दा और अभिलाखसिंह की टक्कर, कोयलेवाले महाराज का आना, कायलेवाले महाराज द्वारा मन्दा को दीक्षित करना, भविष्य के लोक-आंदोलन के लिए उसे तैयार करना, मन्दा और सुगना के सख्य का बढ़ते जाना, ग्रामीण रोजगारी के लिए मन्दा की योजनाएं, ट्रैक्टर लाने की योजना और उसके लिए

चन्दा संग्रहीत करना, गाँव में उत्साह की एक लहर का उठना, अन्ततः ट्रैक्टर का आना, गाँव के लोगों की बेरोजगारी का दूर होना, प्रेम के पैसों से दूसरा ट्रैक्टर लेना, अभिलाखसिंह द्वारा राऊत मजदूरों का शोषण, राऊतिनों को भी बेच देने के किस्से, हैजे की बीमारी का फैलना, अहल्या-जगेसर की कहानी, डा.मकरन्द के एक-दो पत्रों का आना, भृगुदेव की कहानी, उसके द्वारा आरक्षण की समस्या पर लेखिका की टिप्पणी, चुनाव का माहौल, मन्दा का आसपास के गाँवों और उसके लोगों पर प्रभाव, उसकी लगन और ईमानदारी के चर्चे, एम.एल.ए. राजा साहब तक इन बातों का जाना, राजा साहब का मन्दा को मिलने के लिए आना, मन्दा द्वारा गाँव के लोगों की समस्याओं को प्रस्तुत करना, उसके परिणाम-स्वरुप डा.इन्द्रनील का कम्पाउण्डर के आना, लोगों के मन में उत्साह और उमंग की लहरों का उत्पन्न होना, पर कुछ ही समय के बाद डाक्टर का तबादला, भ्रम का टूटना, मन्दा द्वारा राउत-मजदूरों को संगठित करना, उनका अभिलाखसिंह के खिलाफ खुला विद्रोह, अभिलाख के गुण्ड़ों द्वारा हमला, उसमें दोनों पक्ष के लोगों का हताहत होना, मजदूर-वर्ग से दो-तीन लोगों की मौत, उसके कारण अभिलाखसिंह का लीला को लेकर भाग जाना, बाद में जगेसर के यहाँ छिप-छिप कर आना, पैसों की वसूली के कारण जगेसर का उससे दबना, अपने बेटे से सुगना के ब्याह की बात चलाना, पर छिप-छिप कर सुगना पर बलात्कार गुजारना, सुगना का दिन-ब-दिन मुरझाते जाना, मन्दा से एक दूरी बर्तना, अन्ततः अभिलाख के भांडे का फूटना, सुगना का गर्भ धारण करना, सुगना द्वारा अभिलाखरूपी राक्षस का वध, बाद में स्वयं केरोसीन छिड़ककर आत्महत्या कर लेना, मन्दा द्वारा सुगना को अस्पताल पहुंचाना, पर व्यर्थ, सुगना का दम तोड़ देना, डा.मकरन्द के आने की आशा का संचरित होना, गाँव के लोगों में राजनीतिक समझ का विकसित होना, चुनाव का बहिष्कार करना आदि-आदि ।[33]

इस प्रकार "इदन्नमम" प्रेमचंद की परंपरा का एक पेनोरमिक उपन्यास है, जिसमें बुन्देलखंड़ के एक भू-भाग के ग्रामीण विस्तारों की सामाजिक, राजनीतिक , पारिवारिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों का दस्तावेजी चित्रण हमें मिलता है । वहाँ के लोग, उनके तीज-त्यौहार, उनकी मान्यताएं, लोकगीत, होली-दिवाली जैसे बड़े त्यौहारों का उत्सवनुमा आयोजन, वहाँ की बोली-बानी में हमारे सम्मुख प्रत्यक्ष हुआ है । बऊ, प्रेम और मन्दा के रूप में तीन पीढ़ियों की कथा और उनके आपसी मतभेद, उनके सामाजिक-मनोवैज्ञानिक कारणों की पड़ताल प्रस्तुत उपन्यास में तटस्थता के साथ अभिव्यंजित हुई है । कोयलेवाले महाराज के आश्रम और उसकी प्रवृत्तियों के सकारात्मक चित्रण से लेखिका कदाचित यह बताना चाहती है कि यदि धार्मिक कहे जाने वाले लोग सच्चे अर्थो में धार्मिकता का व्यवहार करें तो बहुत-सी सामाजिक समस्याएं उनके द्वारा हल हो सकती हैं । उपन्यास में बाद में यह रहस्य भी खुलता है कि कोयलेवाले महाराज ही पारीछा के प्रधान टीकमसिंह थे ।[34] मैत्रेयी द्वारा जो ग्रामीण स्त्री-विमर्श प्रकट हुआ है, वह थोपा हुआ या आरोपित बिलकुल नहीं है । कुसुमा भाभी और दाऊजी के सम्बन्ध ग्रामीण सहजता से उभरकर आए हैं । मैं स्वयं यू.पी.के ग्रामीण विस्तार से हूँ और वहाँ इस प्रकार के सम्बन्धों को कई बार उतनी अहमीयत नहीं दी जाती । इसे हम "मैला आंचल" में लक्षित कर चुके हैं । मैत्रेयी ने शास्त्रों के मर्म को स्त्रियों के हक में अर्थाया हैं । यहाँ उनकी गुरुकुल की शिक्षा, शास्त्रों का अध्ययन, संस्कृत का ज्ञान उनके काम आया है । सती के आदर्श को भी उन्होंने उस रूप में नहीं लिया है, जिस रूप में रूढ़ियों और परंपराओं में वह चित्रित हुआ है । उनकी दृष्टि में वह हर नारी सती है जो अपने लिए, परिवार के लिए, समाज के लिए संघर्ष करती है ।

"इदन्नमम" मैत्रेयी का सर्वाधिक चर्चित उपन्यास है । हिन्दी का कोई ऐसा औपन्यासिक आलोचक न होगा जिसने इस उपन्यास की समालोचना न की हो । हिन्दी के अनेक शोध-ग्रन्थों, सम्पादन ग्रन्थों में इस उपन्यास की उपस्थिति सबका ध्यान आकर्षित करती है । सन् 1994 में यह प्रकाशित हुआ । उस समय हिन्दी की कोई ऐसी पत्रिका न होगी जिसमें इस उपन्यास की समीक्षा न हुई हो । सुरेन्द्र वर्मा का नाटकीय उपन्यास "मुझे चांद चाहिए" भी तभी प्रकाशित हुआ था, अतः बहुत संभव है और स्वाभाविक भी कि नारी-विमर्श को लेकर इन दो उपन्यासों पर जमकर बहसें हुई हैं । हालांकि दोनों उपन्यासों में नायिकाओं की भावभूमि और उनके संघर्ष-क्षेत्र के परिवेश भिन्न-भिन्न हैं ।

"हंस" संपादक राजेन्द्र यादव ने इस उपन्यास के संदर्भ में लिखा है – "बऊ (दादी), प्रेम (मां) और मन्दा तीन पीढ़ियों की यह बेहद सहज कहानी तीनों को समानान्तर भी रखती है और एक-दूसरे के विरूध्ध भी । बिना किसी बड़बोले वक्तव्य के मैत्रेयी ने गहमागहमी से भरपूर इस कहानी को जिस आयासहीन ढंग से कहा है, उसमें नारी-सुलभ चित्रात्मकता भी है और मुहावरेदार आत्मीयता भी । हिन्दी कथा-रचनाओं की सुसंस्कृत सटीक और बेरंगी भाषा के बीच गाँव की इस कहानी को मैत्रेयी ने लोककथाओं के स्वाभाविक ढंग से लिख दिया है, मानो मंदा और उसके आसपास के लोग खुद अपनी बात कर रहे हों – अपनी भाषा और लहजे में, बुंदेलखंडी लयात्मकता के साथ – अपने आसपास घरघराते थ्रेसरों और ट्रैक्टरों के बीच ।[35]

हिन्दी उपन्यास-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान डा.गोपालराय ने "इदन्नमम" के संदर्भ में जो लिखा है वह उल्लेखनीय कहा जा सकता है --- "इस उपन्यास में एक विजन है जो लेखिका के बुन्देलखण्ड़ी जीवन के प्रामाणिक और अंतरंग अनुभव, पहाड़ी अंचल की बरती और बीहड़ पहाड़ के जीवन के

सामाजिक यथार्थ तथा गहरी मानवीय संवेदना से सम्पन्न है । अपने पूर्ववर्ती उपन्यासों में मैत्रेयी ने बुन्देलखण्ड की अहीर कन्याओं की करूण नियति कथा, जो किसी न किसी रूप में नारी मात्र की नियति कथा है, गहरी संवेदना के साथ प्रस्तुत की हैं, पर "इदन्नमम" में यह कथा करुण की सीमा का अतिक्रमण करती हुई "जूझारू" हो गयी है । "इदन्नमम" की मंदाकिनी वास्तविक अर्थो में एक जुझारू युवती है जो केवल परिवार और समाज द्वारा स्त्री के लिए निर्मित बंधनों को ही नहीं तोड़ती, वरन् उस शोषण के विरूध्ध भी तनकर खड़ी हो जाती है जो आज के नेताओं और माफिया ठेकेदारों द्वारा आदिवासियों और अन्य ग्रामीणों पर कहर के रूप में बरपा जा रहा है । मैत्रेयी बुन्देलखण्ड के परिवेश और ग्रामीण समाज को उसके पूरे खुरदरे यथार्थ के साथ वैसी ही खुरदरी भाषा के सहारे, जीवन्त रूप में प्रस्तुत कर देती है ।[36]

डा.इन्दुप्रकाश पाण्डेय ने प्रस्तुत उपन्यास की समीक्षा करते हुए यथार्थ ही कहा है, यथा---"मैत्रेयीजी ने मन्दाकिनी के माध्यम से निरन्तर चली आती हुई हवन की वैदिक परंपरा को समझने के लिए विनम्रता के साथ प्रश्न किया है और सम्मानपूर्ण स्वीकृति के साथ उसका अपनी कथावस्तु के संयोजन में रचनात्मक उपयोग किया है । वहीं "मैला आंचल" (1958) में रेणुजी ने भारतीय समाज की इस प्राचीन परंपरा को, गाँव के मठ, उसके मठाधीश महंत सेवादास, रामदास, लरसिंहदास और उनके नागा चेले के भ्रष्ट आचरणों की वजह से, अपमानित और तिरस्कृत किया है । ऐसा मैत्रेयीजी ने नहीं किया । मन्दाकिनी लक्ष्मी दासी की तरह इन दुष्ट मठाधीशों की रखैल नहीं बनती, बल्कि अपने समाज-सुधार के कामों में इनका सही उपयोग करती है । इस पूर्ण यथार्थवादी उपन्यास में मैत्रेयीजी ने भारत की इस प्राचीन साधु-सन्तों की परंपरा को सम्मान दिया है और महाराज और उनके सहयोग को अपनी

औपन्यासिक कृति में सहायक एवं पोषक सरंचना (Structure) के रूप में प्रस्तुत किया है।[37]

किन्तु इन्दुप्रकाशजी ने शायद एक बात पर ध्यान नहीं दिया हैं। दोनों उपन्यासों में महन्तों के चरित्र में आसमान-जमीन का अंतर है। कोयलेवाले महन्त अन्ततः पारीछा के प्रधान टीकमसिंह निकलते हैं जिन्होंने किसी जमाने में किसानों-मजदूरों के लिए सफल आंदोलन चलाया था और जिनकी विचारधारा आधुनिक, वैज्ञानिक व प्रगतिशील है। पूर्ववर्ती पृष्ठों में हमने भी बताया है कि धर्म यदि अपनी सकारात्मक भूमिका अदा करता है तो उससे बड़े-बड़े सामाजिक कार्य चुटकी बजाते हो सकते हैं। परन्तु दूसरी और हमारे देश में ऐसे साधु-महन्तों का टोटा नहीं है जो साधु वेश में किसी शैतान से कम नहीं है। रेणु ने "मैला आंचल" में तथा बाबा नागार्जुन ने "इमरतिया" में इन शैतानों की शैतान-लीला का पर्दाफाश किया है। यथार्थ वह भी है, यथार्थ यह भी है। इन्दिरा दीवान के कम चर्चित "अन्त नहीं" उपन्यास में भी इसी प्रकार के एक स्वामी – स्वामी आनंद स्वामी या अखण्ड़ानंदजी का इसी प्रकार का सकारात्मक चित्रण किया है। डा.पारूकान्त देसाई ने प्रस्तुत उपन्यास की समीक्षा करते हुए लिखा है –"नागार्जुन का उपन्यास "इमरतिया" हमारे धार्मिक मठों और सम्प्रदायों में चल रही सडांधता तथा भ्रष्टाचार के घिनौने रूप को रूपायित करता है, तो प्रस्तुत उपन्यास (अन्त नहीं) उसकी सकारात्मकता को उकेरते हुए एक दिशा-निर्देश करता है कि लोगों की धर्म-भावना को यदि सही रूप में "चेनेलाइज्ड" किया जाय तो इसके माध्यम से समाज और राष्ट्र के लिए बहुत कुछ किया जा सकता है। अपने इस नवीन दिशा-बोध के कारण प्रस्तुत उपन्यास का स्वागत होना चाहिए।"[38]

इसे एक सुखद आश्चर्य कहना चाहिए कि धर्म के इस सकारात्मक पक्ष को उकेरने वाली लेखिकाएँ महिलाएँ ही हैं। अन्यथा धर्म का वह नकारात्मक रूप भी एक औपन्यासिक फार्मूला बनता जा रहा था। मैत्रेयी ने इसे दूसरे रूप में लिया है। और ऐसे साधु-सन्तों का बिल्कुल अभाव है, ऐसा भी नहीं है, गुजरात के संत मुरारीबापू और नारायण बापू (ताजपुरा) इसके उदाहरण है।

डा. वेदप्रकाश अमिताभ ने "इदन्नमम" की समालोचना करते हुए लिखा है – "लेकिन उर्वशी (बेतवा बहती रही) की कहानी जहाँ "अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी" का भाव जगाकर समाप्त हुई है वहीं मन्दा "या देवी सर्वभुतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता" है और कोई बरजोरसिंह उसे जहर देकर या कोई अभिलाष उसे उत्पीड़ित करके नहीं झुका पाता है। उसकी शक्ति भी केवल अपनी निजी न होकर वंचितों की संघर्ष-चेतना से पोषित है। इसलिए यह बेहिचक कहा जा सकता है कि "इदन्नमम" न केवल यथार्थबोध की दृष्टि से "बेतवा बहती रही" का विस्तार है अपितु वैचारिक दृष्टि से अधिक प्रखर, परिपक्व और जनधर्मी भी है। समय की प्रमाणिकता "बेतवा बहती रही" में कम नहीं है, लेकिन विस्तृत एवं संश्लिष्ट रूप में अपने समय का साक्ष्य बनने के प्रमाण "इदन्नमम" में अधिक है। यदि "बेतवा बहती रही" विन्ध्य प्रदेश का "मैला आंचल" है तो "इदन्नमम" उसकी "परती परिकथा" है।"[39]

अपने इसी आलेख के अन्त भाग में डा. वेदप्रकाशजी लिखते हैं –"सबसे बड़ी बात है कि मन्दा, टीकमसिंह, कुसुमा, सुगना वगैरह की लड़ाई व्यक्तिगत नहीं है। अतः उपन्यास का शीर्षक भलीभांति मौजू और सटीक लगता है कि यह मेरे लिए नहीं है अर्थात् सबके लिए है। मुक्तिबोध ने लिखा था कि मुक्ति अगर है तो उसके साथ है। मैत्रेयी पुष्पा भी रूढ़ि, अन्याय, अज्ञान, अत्याचार से मुक्ति के किसी भी प्रयास को तभी मूल्यवान और सार्थक मानती है, जब वह

सबके द्वारा और सबके लिए हों। "इदन्नमम" अपने इस बोध के औपन्यासिक रचाव में पूरी तरह से सफल माना जा सकता है।"[40]

निष्कर्षतः कह सकते है कि मैत्रेयी पुष्पा का उपन्यास "इदन्नमम" अपने रूप-स्वरुप में महाकाव्यात्मक चेतना-संपन्न उपन्यास है। इधर की शायद ही कोई औपन्यासिक किताब मिले जिसमें प्रस्तुत उपन्यास को अनुल्लेख्य छोड़ दिया हो। समसामयिक देश-काल की समस्याओं के साथ उसमें राष्ट्रीय एवं आंतरराष्ट्रीय समस्याओं का आकलन है। राष्ट्रीय समस्याओं में कोमी एकता की समस्या, आरक्षण की समस्या, राजकीय नेताओं के नाकारा होते जाने की समस्या, ठेकेदारों और राजनेताओं की माफिया-गिरी, उसमें पुलिस की सक्रियता, खादी और खाकी के मिल जाने से सामान्य लोगों की जिन्दगी का सांसत में पड़ जाना, स्वास्थ्य-सुविधाओं के अभाव में ग्रामीण लोगों में फैलती बीमारियां प्रभृति की गणना कर सकते है, तो आंतरराष्ट्रीय समस्या में मनुष्य के अमानवीय होते जाने की प्रक्रिया तथा पितृसत्ताक समाज-रचना के चलते स्त्रियों के हर प्रकार के शोषण की समस्या को लिया जा सकता है। पर मैत्रेयी केवल समस्या को प्रस्तुत कर रुक नहीं गई है, मन्दा, सुगुना और कुसुमा जैसे चरित्रों के निमार्ण से उनसे पार पाने के विकल्प भी दे रही हैं। इस तरह प्रस्तुत उपन्यास बिना किसी नारेबाजी के चुपचाप सामाजिक व औपन्यासिक सोच को एक कदम आगे बढ़ा रहा है।

(3) चाक (1997) :

मैत्रेयी पुष्पा का चाक उपन्यास सचमुच में चित्त को चाक कर देने वाला उपन्यास है। "इदन्नमम" की लोकप्रियता के ताम-झाम में प्रायः

अध्येताओं, अनुसंधित्सुओं तथा विद्वानों ने इस उपन्यास पर कम चर्चा की है, हालाँकि मैं तो इसे "इदन्नमम" की टक्कर का उपन्यास मानती हूँ। उपन्यास की नायिका हमारे चित्त के चाक पर ऐसे बैठ जाती है, कि कई बार मन्दा भी पीछे छूट जाती है। नायिका का नाम भी मैत्रेयी ने बड़ा चुनकर रखा है – सारंग, और यह सारंग नैनी नायक श्रीधर ही नहीं कइयों के चित्त को चाक करने की क्षमता रखती है। उपन्यास का नायक श्रीधर पेशे से तो शिक्षक है, पर जातिगत दृष्टि से कुंभकार (कुंभार –प्रजापति) है और कुंभार और "चाक" का नित्य-सम्बन्ध होता है। वैसे तो सारंग के पति का नाम रंजीत है और उस दृष्टि से रंजीत को भी कथा-नायक कहा जा सकता है, परंतु और अनेक रूढ़ियों की तरह इस कथानक-रूढ़ि को भी मैत्रेयी ने तोड़ा है। श्रीधर और सारंग में पति-पत्नी का नहीं, प्रेमी-प्रेमिका का रिश्ता है, यदि उसे रिश्ता माना जाए। वैसे कहा तो यही गया है कि सबसे ऊंची प्रेम सगाई।

"इदन्नमम" की भांति "चाक" भी एक बृहत्काय उपन्यास है जो सत्रह अध्याय और चार सौ पैंतीस पृष्ठों में उपन्यस्त हुआ है। "इदन्नमम" में श्यामली और सोनपुरा गाँव था, तो यहाँ पर अतरपुर गाँव है और समय सन् 1980 से इधर का है। हालांकि औपन्यासिक साहित्य के सुप्रसिद्ध आलोचक डा.मधुरेश ने अपनी समीक्षा में उसे "छतरपुर" बताया है, परंतु फिर तुरंत उसके बाद की छठी पंक्ति में उसे "अतरपुर" कहकर अपनी गलती का सुधार भी कर लिया है।[41] इस गाँव पर जाटों का वर्चस्व है, यद्यपि जाटों के अतिरिक्त ब्राह्मण , बनिया, तेली, गड़रिया, कुम्हार, खटिक, चमार, नाई और सक्का मुसलमान जैसी अनेक जातियां भी हैं, जिनमें से दो-एक को छोड़कर प्रायः निम्न कही जाने वाली जातियों में आते हैं।[42]

उपन्यास की शुरूआत में, दूसरे अध्याय में मैत्रेयीजी ने गाँव के जातिगत विधान का खाका रखा है -- गाँव में आज़ादी के दस वर्ष बाद तक जातिविधान अपने-अपने कर्म-विधान से जुड़ा रहा। मसलन चमारों ने मरे पशु ढोए, जूते बनाए, तेलियों ने कोल्हू चलाया, गड़रियों नर भेंड़े पालकर ऊन और दूध दिया, कुम्हारों ने घड़े, दोहनी, शकोरे देकर किसानों की पूर्ति की, नाइयों ने सेवा-टहल, हजामत, दौना-पत्तल और बुलावे का काम संभाला। सक्का लोग द्वारों पर मशक से छिड़काव करते थे और छोटी जातवाले किसान साग-सब्जी उगाकर गाँव की जरूरत पूरी कर देते थे। बदले में बड़े किसान इन लोगों को गुड़, गेहूं , जौ, चना, मटर, सरसों, दालें और भैसों का दूध देते थे।[43] गाँव में कपड़ा और मिट्टी के तेल के अलावा सबकुछ मुहैया था। बाजार के लिए कभी-कभी हाट-पेंठ जाना पड़ता था। परंतु सन् 1980 से 1990 तक आते-आते अतरपुर में विकास का मूर्तिमान रूप दिखाई पड़ने लगा। चकरोड़ ने गाँव को सड़क से जोड़ दिया। ट्यूबवेल के बहाने बिजली आई। तब दीयों और ढिबरियों के साथ-साथ कुछ घरों में बल्ब भी जलने लगे और कुछ घरों में बिजली के पंखे भी आ गये। रेडियो बजने लगा और सुना है कि गाँव के प्रधान फतेसिंह के यहाँ टेलीविजन भी आने वाला है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि उपन्यास में चित्रित अतरपुर गाँव स्वाधीनता के बाद का लगभग पचीस-तीस साल बाद का गाँव है। कुछ अच्छाइयों के साथ बुराइयाँ भी आयीं, शायद बुराइयाँ ज्यादा।

गाँव में सबसे असरदार आदमी इस समय फतेसिंह प्रधान है। उनके दो बेटे हैं हुकमसिंह और राकेश। फतेसिंह पैंतालीस के आसपास के हैं। दूसरे नंबर पर आते हैं भवानीदास जो सवा सौ बीघा के काश्तकार और पास-पड़ोस के चार गाँवों के साहूकार हैं। उनके भी दो बेटे हैं – अयोग्य बेटा मास्टर और

योग्य बेटा इंजीनियर। तीसरे नम्बर पर आते हैं साधजी जो भवानीदास के ही मोहल्ले में रहते हैं और उनके पास "मनी पावर" भी है और "मसल-पावर" भी। छः बेटों के बाप – थानसिंह, करमवीर, नत्था, डोरिया, भूरा और खूबी। इनमें से ब्याह सिर्फ थानसिंह और करमवीर का हुआ था – थानसिंह का इसलिए कि वह मास्टर था , करमवीर का इसलिए कि वह फौज में नौकर था। नत्था चेचक में मर गया और करमवीर की मृत्यु जहरीली शराब पीने के कारण हुई। नत्था के लिए लड़की खरीदी गई थी जो विधवा हो गई। संयोगवशात् उन्हीं दिनों में थानसिंह की ब्याहता पत्नी का भी देहान्त हो गया था। अतः नत्था की खरीदी हुई लड़की बैकुंठी को थानसिंह ने अपने घर बिठा लिया। डोरिया, भूरा और खूबी अभी कुंवारे हैं और शायद कुंवारे ही रहेंगे, क्योंकि जाति-बिरादरी में कोई उन्हें लड़की देने को राजी नहीं है। चौथे नंबर पर है गजाधरसिंह। उनका मोहल्ला अलग है। व्यक्तित्व भी कुछ अलग-अलग। अंग्रेजों के ज़माने में पल्टन में रह चुके हैं। बहू सारंग के प्रति वह हमेशा कोमल और नरमदिल आदमी रहे हैं। सभ्य और सज्जन प्रकृति के गजाधरसिंह को लोग मान-सम्मान देते हैं और ज्यादातर लोग उन्हें बाबा कहकर बुलाते हैं। उनके दो बेटे हें – रंजीत और दलवीर। रंजीत एम.एस.सी (कृषि-विज्ञान) और दलवीर पुलीस में दीवान है। रंजीत का चचेरा भाई भंवर बी.ए. है। रंजीत और भंवर शिक्षित होते हुए भी काश्तकारी करते हैं और गाँववालों को दिखा देना चाहते हैं कि एक शिक्षित व्यक्ति कैसे काश्तकारी करता है। भंवर सारंग का लाड़ला देवर है और रंजीत और सारंग की लड़ाई में हमेशा सारंग का ही पक्ष लेता है। छोटी कोम के लोगों में कुंवरलाल चमार का झंडा प्रधान के दरवाजे पर लहराता रहता है क्योंकि उसका छोटा भाई पदमसिंह पढ़-लिखकर कलेक्टर हो गया है। सारंग गुरूकुल में ग्यारहवीं कक्षा तक पढ़ी हुई है, सो गाँव की शिक्षित

महिलाओं में उसका शुमार है। गाँव के उत्तरी छोर पर एक विशाल ऊसर हैं। लोगों में मान्यता है कि उस ऊसर के कारण गाँव को बांझ-कोखवाला कहा जाता है और उसी सबब उस पर स्त्रियों के मरने का अभिशाप है।

अन्य स्त्री पात्रों में लोंगसिरी बीबी, खेरापतिन दादी, कलावती चाची आदि अधेड़ और वृध्द्ध औरतें हैं। रेशम की सास हुकमकौर भी है। युवा स्त्रियों में सारंग, गुलकंदी, बैकुंठी आदि है।

गाँव में अस्पताल, पोस्ट आफिस, मिडवाइफ केन्द्र जैसे फालतू(?) झमेले नहीं है, क्योंकि प्रधानजी का मत है कि उससे गाँव का माहौल खराब हो जाता है और गाँव का आदमी शहरातियों की तरह चालाक हो जाता है। "एक बार ग्रामसेविका केन्द्र खुलवा लिया था। ग्रामसेविका बहनजी का निवास फत्ते की बैठक में ही था। बी.डी.ओ. आकर बलात्कार कर गया। ग्राम-सेविका ने धरना दे दिया। फतेसिंह प्रधान होने के नाते बहनजी के संरक्षक हुए, और प्रधान होने के नाते ही बी.डी.ओ.के मातहत हुए। बताओ किसकी बजाएं ? दरोगा ने नाक में दम कर डाला। प्रधानजी की पत्नी को रोज गवाही देने जाना पड़ता था। उसने तंग आकर प्रधानजी को गंगाजी का कोंडुआ काढ़कर उसमें खड़ा किया और उनकी वल्दियत के साथ इतरों-पितरों सौगंध धरकर कौल लिया कि आगे से गाँव में किसी बहनजी-फहनजी की सूरत न दिखाई दें। सरकारी लोगों को घर पर पानी भी नहीं पिलाऊंगी।"[44]

किस्सा-कोताह यह कि गाँव में सरकारी संस्था के नाम पर केवल प्रायमरी पाठशाला है। उसका काम बहुआयामी है – बरातघर, पंचायतघर, दावतघर और प्रधानजी यदि अपनी फसल समय पर न बेचना चाहें तो उनका बीजगोदाम भी। भंवर जैसे युवकों का मानना है आजकल स्कूल राजनीति का

मोहरा बना हुआ है। स्कूल में पढ़ाई कैसे होती है उसका भी नमूना देख लीजिए -- राकेश, चंदन, शेरअली, पाती जैसे अनेक बालक नियम से प्रायमरी पाठशाला जाते हैं और ऊधम मचाकर संध्या समय बस्ता टांगकर घर वापिस आ जाते हैं --- स्कूल में पढ़ाने वाले अध्यापक, जो दूर गाँव से आते रहे, वे नम्बरदार की बैठक में अपनी रिहाइश रखते थे, और दूध-मठा, आटा-दाल, साग-तरकारी, घी-तेल वगैरह गाँव का ही खाते रहे। बालकों को बेंत से पीटते, मुर्गा बनाते और वाहवाही पाते थे। गिरपरसाद मुंशीजी बच्चों की चुटिया डोर में बांधकर खूंटी से अटका देते थे, उनकी प्रशस्तियां तो आज तक गाई जाती हैं – वाह-वाह क्या पढ़ाई, क्या बखत की पाबंधी, कैसी अद्भुत लगन। वे जमाने कहां गए ?"[45]

छोटी कौमों में हरपरसाद नाई बम्बई में चम्पी मालिश करके काफी धन कमा लाया है। उसका मुकाबला सेठ भवानीदास से है। सूद पर रूपया उठाना चालू कर रहा है। हजामत का काम अपने बाप को नहीं करने देता। मां बुलावे देना छोड़ चुकी है। उसीकी बहन गुलकंदी है, जिसका अपराध प्रेम-विवाह था और जिसके कारण उसे तथा उसकी मां को अपना ही घर फूंककर जला दिया जाता है। बाद में उसी अपराध में हरपरसाद को धर लिया जाता है। सेठ भवानीदास का कांटा निकल गया। रेशम का हत्यारा डोरिया खुले सांड की माफिक घूम रहा है। पुलिस भी उसका बाल बांका नहीं कर सकी। यही है गाँव का जातिगत समाजशास्त्र। आज़ादी के बाद परिवर्तन आया, पर ऊपर-ऊपर से, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के कारण , किन्तु लोगों की सोच वही और वहीं रही। डा. राम-दरश मिश्र के उपन्यास "सूखता हुआ तालाब" में इसका व्यंग्यात्मक रूप दिया गया है कि गाँव में टैक्टर और "डुगडुगी" की आवाज़ साथ में ही सुनाई पड़ रही है।[46] अतरपुर में भी ठीक वही हिसाब है।

उपन्यास का प्रारंभ एक सनसनीखेज और दु:खद घटना से होता है। सारंग की मौसेरी बहन रेशम का ब्याह साधजी के पुत्र करमवीर से हुआ था। करमवीर रेशम को जी-जान से चाहता था। पर करमवीर करम का ही हेठा निकलता है। जहरीली शराब पीकर यह बांका जवान प्रभु को प्यारा हो जाता है। रेशम की जवानी उछाल पर थी, इस पर करमवीर ने उसे और भड़का दिया था। बहुत ज्यादा समय नहीं बीता था पर उसके कदम लड़खड़ाने लगते हैं और गाँव के किसी व्यक्ति से दिल लगाकर उसके गर्भ को ढोने लगती है। साधजी और उसकी धरमपत्नी हुकमकौर रेशम का ब्याह डोरिया से करा देना चाहते हैं, पर रेशम उसके लिए राजी नहीं होती, न ही वह अपने गर्भ को गिराना चाहती है। फलतः "बिटौरा" (कंड़ा और गोबर से बना घरौंदा) में आग लगाकर उसकी हत्या कर दी जाती है और फिर उस हत्या को अकस्मात का रूप दिया जाता है। चंदना की लोककथा पुनः एक बार खेरापतिन दादी दुहराती है। सारंग रंजीत को उकसाने का प्रयत्न करती है पर स्वयं रेशम के माता-पिता (सारंग के फूफा-बुआ) अपनी बेटी के कर्म पर शर्मिंदा है। पराए गाँव में वे गवाह-सबूत कहां से जुटाएं, यह भी एक सवाल है। रंजीत पहले तो तैयार नहीं होते पर सारंग की बलवती इच्छा के आगे घुटने टेक देते हैं और तोता की बहू को गवाह बनाकर तथा अपने बड़े भाई की पुलिस की नौकरी का भरपूर लाभ उठाते हुए डोरिया को गिरफ्तार करवाने में तो कामयाब हो जाते हैं पर अपने "मनीपावर" और "मसल पावर" से मास्टर थानसिंह उसे जमानत पर छुड़वा ही नहीं लाते केस भी रफे-दफे करवा दिया जाता है क्योंकि गवाह थी तोता की बहू। दादा (रंजीत के पिता) सच ही कहते हैं – "केस को सैसन तक पहुंच जाने दें तो समझो कि...छोटी कौम साली। या तो डर के मारे अम्मा के लहंगा में दुबक जाएगी या फिर मौल बिक जाएगी।"[47] तोता पक्का मकान बनवा लेता है। बकौल चरनसिंह बौहरे (ग्राम पंडित) धन धर्म से कई गुना भारी ही पड़ता है

कलयुग में ।[47] डा. पारूकान्त देसाईजी की एक व्यंग्य-गज़ल का शेर स्मृति में कौंध रहा है –

"धरम जुड़ता धन के पीछे, सत्ता जुड़ती धन के पीछे

भाग रहे सब धन के पीछे, चाट रहे हैं तलवा तलवा ।[48]

उपन्यास का प्रारंभ ही रेशम की हत्या से होता है, जिसे अकस्मात या आत्महत्या का रूप दिया जाता है।

उसके बाद जो घटनाओं का सिलसिला शुरू होता है, वह आजादी के बाद के सातवें-आठवें दशक के ग्रामीण जीवन के विभिन्न पक्षों को सामने लाता है। रंजीत पहले तो मुकदमें के लिए राजी नहीं होता, पर बाद में सारंग के कारण वह डोरिया को पकड़वा तो लेता है किन्तु कुछ समय बाद वह छूट भी जाता है क्योंकि साक्षियों की खरीद-फरोख्त में मास्टर थानसिंह का पलड़ा भारी पड़ता है। ताव में आकर रंजीत ऊपर तक लड़ने की बात करता है, पर शाम दाम दण्ड भेद की नीति से उसे चूप करा दिया जाता है। डोरिया सारंग के साथ भी बदसलूकी करता है और चंदन (सारंग का बेटा) की नार / गरदन / मसलने की धमकी भी देता है। इन झमेलों के चलते आदर्शवादी रंजीत गाँव छोड़कर शहर जाने की भी सोचता है। उनके बछड़े "प्रथम" को विष देकर मरवा दिया जाता है, जो एक प्रकार से चेतावनी है। पहले मना करने वाली सारंग पुत्र-मोह में उसे आगरा भेजने के लिए तैयार हो जाती है, परंतु एक ही साल में चंदन लौट आता है। चंदन के लौट आने से पहले दूसरे कथा-नायक श्रीधर प्रजापति का कथा-प्रवेश हो जाता है।[49]

उपन्यास की कथा "ए टु झेड" है भी और नहीं भी। "ए टु झेड" इस अर्थ में है कि सारंग क्रमशः अपनी योग्यता और सूझ-बूझ के सहारे, आगे बढ़ती जाती है और अंततः ग्राम-प्रधान (सरपंच) के रूप में चुन ली जाती है। उसके सामने रंजीत एम.एस.सी. होते हुए भी कुछ कर नहीं पाता, बल्कि उसकी चरित्रगत गिरावट बढ़ती ही जाती है। यहाँ "चरित्र" शब्द का वह रूढ़िगत अर्थ नहीं लेना है। एक पढ़ा-लिखा, सुशिक्षित, व्यक्ति क्रमशः ऐसे काम करता जाता है कि उसमें और मास्टर थानसिंह या डोरिया या प्रधान फतेसिंह इनमें कोई अंतर नहीं रह पाता है। वह भ्रष्टाचार के कर्दम में खूंपता ही जाता है। उपन्यास के प्रारंभ में जो सारंग उसे अपना आदर्श पति मानती है, अब सारंग की नज़र में उसकी कोई किंमत नहीं रह गई है। अब उसके मन के सिंहासन पर मास्टर श्रीधर प्रजापति है। पर कथा "ए टु झेड़" इस अर्थ में नहीं है कि बीच-बीच में अनेक अवांतर कथाएं उसमें जुड़ती चली जाती हैं। लेखिका बार-बार पूर्व-दीप्ति का सहारा लेती है। इस पूर्वदीप्ति के लिए वह कभी "शब्द-सहचयन" (Word-Association) तो कभी प्रसंग-सहचयन (Eventual Association) का सहारा लेती हैं। लौंगसिरी बीबी की कहानी, पांचन्ना बीवी की कहानी, गुरूकुल में व्याप्त अनैतिक व्यापार, अनुशासन के नाम पर उनका यौन-शोषण गुरूकुल के ही कर्ता-धर्ता लोगों द्वारा, शकुन्तला, शारदा आदि की आत्महत्याएं या हत्याएं (?), गुलकंदी की प्रेम-कहानी और "आनर-कीलिंग" के रूप में उसकी हत्या, उसके साथ उसकी मां को भी अकारण जला देना जैसी अनेकों कहानियां ग्रामीण-जीवन के जटिल तानों-बानों के कहीं बुनती, तो कहीं कसती, पीड़ित करती चली गई हैं।

उपन्यास में जो कथा-प्रवाह आगे बढ़ता है वह इस प्रकार है - चंदन का अलीगढ़ जाना और वापिस आना, रेशम वाले मामले मे रंजीत का कमजोर पड़ते जाना, आगे मुकदमा लड़ने के विचार को छोड़ देना, इसके कारण सारंग

के मन में एक गांठ का निर्मित हो जाना, डोरिया के मान-मर्दन के लिए पहलवान कैलासीसिंह ताड़फड़ेवाले को निमंत्रित करना, कलावती चाची द्वारा उनकी मर्दानगी और उसी सबब पहलवानी में प्राण फूंकने की बात, फतेसिंह प्रधान द्वारा रंजीत और थानसिंह को मिलाने के प्रयास, स्कूल में नए मास्टर के रूप में श्रीधर का आना, सारंग के मन में श्रीधर को लेकर बढ़ती जाती उत्सुकता, श्रीधर के कारण गाँव में गाँव के बच्चों में और उसी क्रम में उन बच्चों की माताओं में एक नवीन उत्साह और चेतना का आना, श्रीधर मास्टर और थानसिंह में झड़प, थानसिंह का तबादला, मनोहर की बहू जिरौलीवाली की कहानी, श्रीधर द्वारा स्कूल के बच्चों द्वारा एकलव्य नाटक का खेला जाना, उसमें संवाद सारंग के और इस तरह गुरुकुल की संस्कृत शिक्षा का काम में आना, श्रीधर और सारंग को लेकर गाँव की औरतों में कानाफूसी, रंजीत और सारंग के शारीरिक मिलन का वर्णन (क्या यहाँ मैत्रेयी ही सारंग के रूप में उभर आयी है ?), अतरपुर में प्राथमिक स्कूल का बिल्डिंग होते हुए बिल्डिंग फंड को हड़पने के चक्कर में प्रधानजी का श्रीधर के हस्ताक्षर के लिए जाना, श्रीधर की सीधी-सच्ची आदर्शवादी बातें, यह फंड किसी ऐसे गाँव को मिलना चाहिए जहाँ बच्चें अभी भी पेड़ों के नीचे बैठकर पढ़ते है (पृ.238), इस पर प्रधानजी का नाराज होना, इस काम को कराने के लिए तरह-तरह के पैतरे, रंजीत को यह सौपना कि वह सारंग के द्वारा इस काम को करवा लें क्योंकि श्रीधर सारंग को मना नहीं कर पाएगा, परंतु उनका यह पासा भी उल्टा पड़ना, गुलकंदी और बिसुनवा की प्रेम-कहानी, गुलकंदी का बिसुनवा के साथ मेले से भाग जाना, उसको लेकर तरह-तरह की बातें, केका की कहानी, उसे लेकर श्रीधर की बदनामी की बातें, रंजीत को प्रधान द्वारा लालच देना के अगले चुनाव में वह उसीको प्रधान बनाएंगे पर चुनाव के लिए भी पैसे चाहिए इसलिए श्रीधर पर तरह-तरह के दबाव पर श्रीधर के न मानने पर रंजीत और कुंवरपाल के द्वारा

रात के समय मास्टर श्रीधर की बुरी तरह से पिटाई, मास्टर को अलीगढ़ के अस्पताल में दाखिल करना, सारंग की जिद कि वह उसे देखने जाएगी, इसको लेकर सारंग और रंजीत में बढ़ती दूरियां, श्रीधर के अलीगढ़ से वापस आ जाने पर लौंगसिरी बीबी के यहाँ उसको ठहराना, सारंग की सेवा-टहल, उसीमें दोनों का एक-दूसरे के करीब आना, श्रीधर-सारंग का संवनन और मिलन, रंजीत द्वारा सारंग का पीटा जाना, बाबा द्वारा दोनों को समझाना, बाबा की स्वीकृति, शक-संशय के सांप के कारण रंजीत की अम्मा की मृत्यु का एकरार, बाबा के स्वभाव का विश्लेषण, गुलकंदी का पता लगने पर हरप्रसाद नाई का अपनी माता को समझाना कि वह दोनों को अपने घर लिवा लावे ताकि वह सबके सामने अपनी स्वीकृति की मुहर लगाकर उस कलंक-कथा से कुछ मुक्ति पावे, मां द्वारा वैसा ही करना, हरप्रसाद द्वारा ऐन होली वाले दिन अपने ही घर में आग लगवा देना और उसमें गुलकंदी बिसुनवा और हरप्रसाद की मैया का जलकर राख हो जाना, गाँववालों द्वारा उसे दुर्घटना बताने का प्रयास, पर आखिरकार हरप्रसाद का पकड़ा जाना, फतेसिंह प्रधान के चातुर्य के कारण गाँव में कई लोगों के मन में प्रधानी का लड्डू फूटना, चुनावी पैंतरे, गुण्डागर्दी और दारूबाजी की रेलमछेल, बाबा भंवर और श्रीधर का सारंग को चुनाव में खड़े रहने के लिए तैयार करवाना, फार्म भरना, रंजीत का बुरी तरह से आहत होना, और उपन्यास के अंत में सारंग के चुनाव जीत जाने के संकेत आदि-आदि।

इसके साथ ही होली-दिवाली जैसे त्यौहारों का मनना, करवा-चौथ, बासौड़ा, दस्टौन आदि के विधि-विधान, लोककथाएं, लोकगीत, मान्यताएं, गाँव में फैल रहा जातिवाद का जहर, छोटी जातिवाले लोगों की घुड़सवारी पर प्रतिबंध जैसे कई तथ्य भी उपन्यास में यथास्थान आये हैं।

"गोदान" की धनिया की भांति "चाक" की सारंग भी एक पक्के मनोबल वाली महिला है। बरअक्स इसके रंजीत बहुत ही कमजोर और ढुलमुल नायक है। रंजीत कच्चे कान के भी हैं और जल्दी ही लोगों के बहकावें में आ जाते हैं। सारंग भी रंजीत को तहेदिल से चाहती है, परन्तु उसकी चाहत में दरार तब पड़ती है जब रंजीत सच्चाई का रास्ता छोड़कर भ्रष्ट लोगों की संगत पकड़ लेते हैं। श्रीधर के प्रति लाख श्रध्द्धाभाव व प्रेम होने के बावजूद सारंग के मन में चारित्रिक स्खलन नहीं होता यदि रंजीत का व्यवहार उसके प्रति ठीक-ठाक रहा होता। पर वह अपने जाटपने पर उतर आता है और फलतः सारंग के मन से भी उतर जाता है। उपन्यास में एक स्थान पर श्रीधर और सारंग के शारीरिक मिलन का प्रसंग पूरे एक पृष्ठ में वर्णित है।[50] यहाँ लेखिका ने बड़ी सांकेतिक शैली का प्रयोग किया है। मैत्रेयी के उपन्यासों में ऐसे संभोग-संवनन के प्रसंग प्रायः मिलते हैं। "इदन्नमम" में भी ताऊजी और कुसुमा भाभी वाले प्रसंग का विस्तृत आलेखन मैत्रेयी ने किया है। रेशम की हत्या को रंजीत भूल जाता है, पर सारंग के मन में तो प्रतिशोध की आग धधकती रहती है और इसलिए रेशम के हत्यारे डोरिया को पहलवानी में धूल चटाने के लिए अपने दूर के जीजाजी कैलासीसिंह ताड़फड़ेवाले को निमंत्रित करती है।

कैलासीसिंह ताड़फड़ेवाले की कहानी उपन्यास के यौन-विमर्श को सामने लाती है। कैलासीसिंह ताड़फड़ेवाले पहलवान तो है, पर एक स्त्री की शिशु-याचना के कारण उसे ऋतुदान देना चाहते तो हैं पर असफल रहते हैं। यह असफलता उनको नपुंसकता की ओर ले जाती है, जिसका प्रभाव उनकी पहलवानी पर भी पड़ता है। उनके मन में जिस यौन-ग्रंथि का निर्माण होता है उसके चलते वह नपुंसकता का अनुभव करते है।[51] यहाँ राजकमल चौधरी के बहुचर्चित मनोवैज्ञानिक उपन्यास "मछली मरी हुई" का निर्मल पद्मावत हमारी

स्मृति में कौंध जाता है । पहाड़-सा दिखने वाले निर्मल को देखकर कोई नहीं कह सकता कि वह नपुंसक है । युवतियां उसके व्यक्तित्व से आकर्षित होती है पर वह उनसे दूर-दूर भागता है । विदेश में कल्याणी नामक एक सुंदरी युवती द्वारा अपमानित होने के कारण उसमें यह नपुंसकता आयी है । मनोवैज्ञानिक दृष्टया नपुंसकता कभी मनोवैज्ञानिक प्रकार की भी हो सकती है और इस प्रकार की नपुंसकता मनोवैज्ञानिक उपचारों द्वारा संभव हो सकती है ।[52] विदेशों में तो इस प्रकार की नपुंसकता दूर करने वाली महिलाएँ होती हैं जो अपनी सेवाओं द्वारा नपुंसक पुरूष में पुंसत्व की हुंकार भर देती हैं । बेशक उसके खातिर वह बड़ी रकम भी वसूल करती हैं । उपन्यास में यह काम कलावती चाची करती है ।[53] यथा..... "सारंग, वे लल्लू बड़ी देर में निरदंद भए । पर जब निरदंद हो गए तो समझ ले कि मेरी आंखों के अगारी पूरे पुरिख होकर ठाड़े हो गए । मइया इतनी खुस तो मैं तब भी नहीं हुई थी, जब पहली बेर रिसाल के दादा... । वे पुरिख और मैं लुगाई... मैंने उन लल्लू को छाती से चिपकाकर, हार और जीत आनंद में डूबो लिया । रस ही रस फिर तो ।"[54] मर्दानगी के लौटने के साथ ही ताड़फड़ेवाले की पहलवानी भी लौट आयी और उन्होंने डोरिया को धूल भी चटायी ।

डा.मधुरेश ने प्रस्तुत उपन्यास की समालोचना करते हुए कहा है – "मैत्रेयी पुष्पा का "चाक" स्त्री-विमर्श का उपन्यास है, जो इस विमर्श की देशज प्रकृति का खुलासा करता है । वे इस विमर्श को पढ़ी-लिखी, नौकरीपेशा, बुध्द्धिपेशा, बुध्द्धिजीवी स्त्री की सीमा से बाहर निकालकर गाँव और खेत-खलिहान में काम करती स्त्री से जोड़ती है । गाँव में स्त्री-उत्पीड़न और हत्या का एक लम्बा इतिहास रहा है । इस इतिहास में रस्सी पर झूलती रूकमणी भी है और कुएं में कूदी रामदेई भी । करबन नदी में नारायणी जैसी न जाने कितनी

स्त्रियां समाधिस्थ है। वे अपने इस शील-सतीत्व के कारण कुर्बान हुई स्त्रियों में है जिन्हें नष्ट करने वाले पुरूष हर सामाजिक दंड –विधान और आचार-संहिता के पकड़ के ऊपर बाहर रहते आए हैं। इसी कड़ी में अब रेशम शामिल है।[55]

किन्तु अपनी समालोचना के अंत तक आते-आते वे अपने ही कथन के अंतविरोध को बता गए हैं जहाँ वे रेशम के साहस से स्त्री-विमर्श की जो दिशा तैयार की गई है वह उसे कुछ अविश्वसनीय और अप्रामाणिक बना देता है, ऐसा कहते हैं। यहाँ वे ग्रामीण स्त्री की देशज प्रकृति का शायद विस्मरण कर गए है। वस्तुतः मैत्रेयीजी उस ग्रामीण नारी को प्रस्तुत कर रही है जो न देवी है और न ही कुल्टा। उन्होंने नारी का सहज, प्राकृत और देशज रूप रखा है। जो गाँवों में रह चुके हैं, जिन्हें ग्रामीण जीवन और स्त्रियों का अनुभव है उन्हें यह अविश्वसनीय नहीं लगेगा। सारंग जब कलावती चाची से कहती है कि चाची तुमने मेरे खातिर ... तब उसकी बात को बीच में ही काटते हुए कलावती चाची कहती है..... "चल लुच्ची" हम जाटिनी तो जेब में बछिया धरे फिरती हैं। मन आया ताके पहर लिए। तेरी-मेरी खातिर क्या ? अए तो हम्बे। क्या पल्लो (परलय) हो गई ?"[56]

श्रीमान उदयन वाजपेयी ने तो अपने सवापेजी वक्तव्य में "चाक" को "गजेटियर शैली" और कंप्यूटर पर "फीड़" किया गया फार्मूलाबद्ध उपन्यास करार दे दिया है। यथा - "संयोग से यह वह चाक नहीं, जिस पर बर्तन (पात्र) बनते हैं, यह अनोखा चाक है, जिस पर बने-बनाए बर्तन रखे जाते है और उतार लिए जाते हैं, ताकि उनके चाक पर बनने का स्वांग किया जा सके।"[57]

किन्तु हम उनसे सहमत नहीं है। "चाक" में बंधा-बंधाया कुछ भी नहीं है। यह एक नदी की तरह बहती हुई कथा है। यह "चाक" स्थिर नहीं गतिमान है। और सारंग ही "चाक" पर चढ़ा हुआ मिट्टी का लौंदा है जो श्रीधर जैसे कुंभकार के सधे हुए हाथों से निर्मित हुआ है। सारंग उपन्यास के अंत में वह नहीं रहती, जो वह उपन्यास के प्रारंभ में थी।

इस उपन्यास पर अपनी तरफ से और कुछ अधिक न कहते हुए हम डा.राजेन्द्र यादव और ज्ञानरंजन के अभिमत को उद्धृत करना चाहेंगे। यथा – "चाक" सामंती समाज के भीतर व्याप्त हिंसा और स्वार्थों की टकराहट की प्रामाणिक कहानी है। इस समाज का ताना-बाना हिंसा और सैक्स से बना हुआ है। मैत्रेयी इन दोनों को ही एक कथाकार की निगाह से पात्रों के आचार-विचार और सोच के रूप में प्रभावशाली ढंग से पकड़ती हैं। "चाक" में बिना बड़बोलेपन के उन्होंने गाँव की स्त्री की जिस चेतना का विकास किया है वह उपन्यास कला पर उनकी पकड़ को रेखांकित करता है।[58] इस ग्रामीण और सामंतीय जीवन और परिवेश का हिस्सा रही हैं। मैत्रेयीजी, अतः यह उनके सहज अनुभवों की कलात्मक अभिव्यक्ति है।

ज्ञानरंजन ने मैत्रेयीजी की औपन्यासिक कला में लोकजीवन की महक को महसूस करते हुए लिखा है – "जिस लोकजीवन से हमारी रचनात्मक धारा काफी पहले विमुख हो चुकी थी उसकी अनेक परतें मैत्रेयी पुष्पाने खोल दी हैं। मैत्रेयी पुष्पा को उनकी मामूली जबरदस्त स्त्रियों के कारण याद किया जाएगा।"[59]

(4) झूलानट (१९९९) :

"झूला नट" मैत्रेयी पुष्पा का चौथा और "स्मृतिदंश" को भी हिसाब में ले तो पांचवाँ उपन्यास है। दो बृहदकाय उपन्यासों के बाद यह एक लघु-उपन्यास । लघु पर औपन्यासिक बलबत्ता में लघु नहीं । बुंदेलखण्ड़ की एक और बलवत्तर बलूकी नारी शीलो । नारीवाद के बड़बोलेपन के बिना उनके "चाक" से उतरी ये नारियां शुरू-शुरू में तो रूढ़ियों, परंपराओं, रीति-रिवाजों की जकड़न में पुरुषवादी समाज में, पुरुष के इशारों पर नाचती हैं, पर बाद में संतुलन साध लेने पर उन्हीं पुरुषों को नचाती भी है। साथ ही उनके नारी पात्र पुरूष-सत्ता, पुरूष-अस्तित्व या पुरूष के साथ को नकारती भी नहीं है परंतु उनको अपने हिसाब से मोड़ देती है, अतः पुरूष और प्रकृति की यह "लीला" उनके उपन्यासों में प्रायः उद्‌भासित होती रहती है। और वह यहाँ भी हुई है।

उपन्यास की कुल कथा इतनी है । सुमेर गाँव का एक पढ़ा-लिखा आदमी है। वह बीस हजार रूपया दहेज लेकर शीलो को ब्याह लाता है। उन बीस हजार रूपयों में वह दरोगा की नौकरी खरीद लेता है। अब नौकरियों को भी खरीदना ही पड़ता है। हमारे गुरूदेव ने बिलकुल सही फरमाया है – "ज्ञान को है कौन पूछता ज्ञान गलियों में बीके, काम पाने के लिए अब दाम होना चाहिए।[60] तो दहेज के दाम को रिश्वत में देकर सुमेरजी के एक अच्छी दम-खम वाली नौकरी पा लेते हैं। पर शीलो के जिन रूपयों से खरीदी नौकरी को पाकर वे मौज करते हैं उसी शीलो को ठुकरा देते हैं। उसे पत्नी का दरज्जा नहीं देते। शीलो गाँव की एक साधारण –सी लड़की है, न बहुत सुंदर, न बहुत सुघड़ और लगभग अनपढ़ । गाँव में नौकरी करने वाले अन्य युवकों की भांति महीने-पखवाड़े आकर शीलो की खोज-खबर ले जाते तो वह भी बेचारी चूप रह जाती क्योंकि शहराती पढ़ी-लिखी लड़कियों वाला रोग या मनोरोग ये अनपढ़-सी लड़कियों में नहीं होता। वे जानती हैं कि शहर में नौकरी करने वाला आदमी

कई-कई दिनों तक शरीर-भूख से वंचित नहीं रह सकता। वह तो बाहर कहीं मुंह मारेगा ही, यथा – "उनको गुपचुप अंदाज में मालूम रहता है कि स्वामी को बंगाल की जादूगरनी औरतों ने अपने चंगुल में कर रखा है। इसमें खास बात क्या है ? मर्द की मर्दानगी है। ग्रामीण समाज को भी उज्र नहीं होता, तभी न मौन रह जाते हैं लोग। इसमें न्याय-अन्याय की बात कहां आती है ? बिना रोटी के भूखे पेट कितने दिन रह सकता है आदमी ? निद्रा-भय-मैथुन-आहार ... यह दीगर बात है कि औरतों को व्रत-उपवास का अभ्यास आरंभ से ही डाल दिया जाता है"[61]

सुमेर दो-एक बार शहर से गाँव आते हैं पर शीलो से दूर ही दूर रहते हैं। बकौल सत्ते के वे न तो नपुंसक है, न कमजोर।[62] फिर ऐसा व्यवहार क्यों ? बेचारी शीलो सास के कहने पर क्या नहीं करती ? दोरा-धागा, गंडा-तावीज, तंत्र-मंत्र, साधु-फकीर, वशीकरण, शहर का शउर सीखना, बनाव-श्रृंगार करना सब तो वह करती है। पर महादेव हैं कि प्रसन्न होने का नाम ही नहीं लेते हैं। फिर शीला को ज्ञात होता है कि सुमेरबाबू ने तो शहर में किसी को रख लिया है। सरकारी मुलाजिम है। एक पत्नी के रहते दूसरा ब्याह कर नहीं सकते। उसी फिराक में गाँव आते हैं और शीलों से दूर-दूर भागते हैं ताकि वह खुद उन्हें छोड़कर चली जाएँ या तलाक दे दें। पर शीलो ऐसा कुछ नहीं करती।

मैत्रेयीजी के अधिकांश आलोचकों ने प्रस्तुत उपन्यास की शीलो को "गाय की खाल में बाघिन" की उपाधि दी है, बेशक बाद की परिवर्तित शीलो को।[63] परन्तु हम उसका उलट कहना चाहते हैं, शीलो पहले से ही "गाय की खाल

में बाघिन" थी, सुमेर का अन्याय, अमानुषी व्यवहार उस बाघिन को जगा देता है।

शीलो अनपढ़ है। उसने न समाजशास्त्र पढ़ा है, न मनोविज्ञान, पर उसमें ग्रामीण औरतों की वह सामान्य सूझ-बूझ (कोमनसेंन्स) है, जिसके चलते वह सुमेर जैसे दावपेंची और कानूनी और सरकारी मुलाजिम को भी धूल चटा देती है। जब सुमेर उसकी शारीरिक जरूरतों से मुंह फेर लेता है तब मां (सास) की शह पाकर ही वह देवर बालकिशन से शारीरिक रिश्ता बना लेती है और उसे "बच्चे" से "पाठा मर्द" बना देती है। पति-पत्नी न होते हुए पति-पत्नी की तरह ही रहते है। पंचायत के कहने पर वह "बछिया-दान" भी नहीं करवाती। बुंदेलखण्ड में स्त्री का दूसरा विवाह बछिया दान करके सादगी के साथ संपन्न किया जाता है।[64] परंतु शीलो "बछिया-दान" नहीं करवाने देती क्योंकि तब वह सुमेर की ब्याहता न रहती और "बछिया-दान" वाली औरत को कानून की भी कोई स्वीकृति नहीं होती, फलतः सुमेर उसे कभी भी दूध की मक्खी की भांति निकाल बाहर करता। पर जमाने के थपेड़ों ने शीलो को शातिर और होशियार बना दिया है।

अतः सुमेर प्यार का जाल बुनने के लिए एक बार शीलो को एकान्त में मिलने की बात करता है, तब शीलो अपनी अम्मा (सास) से कहती है – "पहले अपने बेटे को जेठ-बहू का कायदा समझा दो। अब अकेले में मिलने का मतलब ?"[65] इसी तरह जब सुमेर जमीन-जायदाद के बटवारे की बात करता है तब शीलो सुमेर को साफ-साफ सुना देती है – "काये के पति-पत्नी, बाबूजी ? वह अबोध (अर्थात् बालकिशन) मन का बड़ा अच्छा है, सो बस --- तुम्हारी ब्याहता होने के बाद भी ..... पर छोड़ो उस बात को। बालकिशन तो ऐसे ही है

हमारे लिए, जैसे तुम्हारे लिए तुम्हारी दूसरी औरत । बिनब्याही, मनमर्जी की ।..... जमीन-जायदाद की बात यह रहने दो कि यह मामला तो अब भी हमारे-तुम्हारे बीच ही है । बाबूजी, बालकिशन, सिरफ अपने हिस्से का मालिक है । वह कौन होता है हमारे तुम्हारे हिस्से में टांग अड़ानेवाला ? बिलकुल ऐसे ही, जैसे तुम्हारी वह बेचारी कोई नहीं होती हमारे-तुम्हारे बीच । ये जर-जोरू के मामले बड़े-कड़े (कठिन) है, बाबूजी ।[66]

शीलो की इस बात से सुमेर तो चारों खानों चित्त हो जाते हैं । साफ तौर पर शीलो ने उसकी जमीन-जायदाद पर कब्जा कर लिया था और वह सरकारी नौकर , करे तो क्या करे ? ताता दूध न निगलते बने, न उगलते बने । उसका गुस्सा बेचारी अम्मा पर फूट पड़ता है – "बेवकूफ हो तुम, बूढ़ी । यह औरत इतनी सीधी नहीं, जितनी तुम समझ रही हो । भरोसा कर लिया तुमने ? अपने हाथ कटा लिए । कोई राजी से न दे , तो यह जबर्दस्ती काबिज़ हो जाए ।"[67] और फिर आगे वह जो कहता है उससे खुलासा हो जाता है कि "बछिया-दान" न करवा के शीलो ने कितना बुद्धिमानी का काम किया था । यथा – "सारी गलती तो तुम्हारी है । बछिया क्यों नहीं कराई बालकिशन के संग । बछिया करा देतीं, तो यह सींग फैला कर खड़ी हो जातीं ? छोटा-सा पशु भी उसको बेदखल कर देता सारे हक से । पूरा गाँव गवाह होता...पर अम्मा, दो-चार हजार रूपये का लोभ करके तुमने हमें चित्त कर दिया । अरे! मुझसे कहती, तो मैं भेज देता । अब भुगत लो, लाखों की जायदाद पर दांत गाड़े बैठी है ।[68]

मैत्रेयीजी ने यहाँ भी यौन-आवेगों का खुलकर वर्णन किया है, फिर यहाँ तो विषय भी उसी प्रकार का है । शीलो पति-परित्यक्ता नारी है । ऐसी स्त्री में यौनेच्छा खूब बढ़ी-चढ़ी होती है, क्योंकि उनकी संतुष्टि का कोई उपाय नहीं

होता है। बाल-बह्मचारी और उम्र में छोटे ऐसे, शीलो के सामने "बच्चा" – सा दिखनेवाले बालकिशन को शीलो एक पक्का पाठा मर्द कैसे बनाती है, उसका यह चित्र देखिए - "आवेग के क्षण या प्यार का असीम वेग - शीलो भाभी ने बाहों में भर लिया उसे और चूम लिया। एक बार नहीं, कई बार लिया चुंबन – पुच्च पुच्च पुच्च। ....भाभी के पुचकार भरे हमले जारी थे। अब वह भाभी की गोद में विचर रहा था – रूठे हुए बच्चे के माफिक। बार-बार चूमाचाटी। मन ही मन डर भी लगा। ज्यादा देर यह चलता रहा तो दम न निकल जाए, जब कि एक मन यह भी था कि दम निकालती रहे शीलो भाभी। अंत में समर्पित बालकिशन अपने गाल, होंठ, ठोड़ी, माथा – सब ही खुद ही हाजिर करता रहा। कमरे की हवा बदल गई। देह के जोड़ खुलने लगे। गुनगुनी तरंगो में तैर रहा है वह।...बेकाबू बछड़ा बालकिशन, काबू में कर लिया शीलो भाभी ने। शीलो रूपी औरत की मेहरबानी, बालकिशन पूरा पाठा मर्द कब बन बैठा, याद नहीं। वे होशोहवास के लम्हे न थे। .... बाद में नींद। मुंडेर में कागा बोला। पेड़ों पर चिड़िया चहचहाई। सूरज भगवान का रथ आधे रास्ते आ गया। बालकिशन की नींद नहीं टूटी।...नींद नहीं, मदहोशी ! उंगलियां कांपती हैं – मधुमक्खी का छत्ता निचोड़ेगा। दीन-दुनिया से परे मन में शीलो, तन में शीलो, रंगभवन में शीलो....शीलो....मन के इकतारे पर एक ही नाम निकलता है शीलो। शीलो नाम की ऐसी लगन लगी कि "भाभी" शब्द सदा को भूल गया।"[69]

डा. सुमा वी. राव ने प्रस्तुत उपन्यास की आलोचना करते हुए लिखा है कि - "मैत्रेयी पुष्पा ने "झूला नट" के रूप में किसे दर्शाया है शीलो को अथवा बालकिशन को? यह निर्णय पाठक महोदय को ही करना है।"[70] हमारी समझ

में बात यह आती है कि इसके सभी मुख्य पात्र - शीलो, बालकिशन, सुमेर और मां – "झूलानट" की स्थिति में है। शीलो बालकिशन और सुमेर के बीच में झूल रही है, बालकिशन अपने वर्तमान और भविष्य के बीच में झूल रहा है, सुमेर ब्याहता और रखी हुई औरत के बीच में झूल रहा है। "झूलानट" एक रस्सी पर बांस लेकर झूलता है। बांस के द्वारा वह संतुलन बनाए रखता है और उस संतुलन पर ही उसका वजूद टीका हुआ है। यहाँ स्थितियों का संतुलन कभी सधता, कभी नहीं। इसलिए मां और बालकिशन के मन में विचलन है। वे कभी एक बात सोचते हैं कभी दूसरी। कभी शीलो उनको अच्छी लगती है तो कभी रंडी, वेश्या, डाकिन और चुड़ैल। इन रिश्तों का क्या भविष्य होगा, सब अनिश्चित है, "झूला नट" की भांति।

उपन्यास की भूमिका में डा. राजेन्द्र यादव लिखते हैं – "पति उसकी (शीलो की) छाया से भागता है। मगर तिरस्कार, अपमान और उपेक्षा की यह मार न शीलो को कुंए - बावड़ी की ओर धकेलती है और न आग लगाकर छुटकारा पाने की ओर। वशीकरण के सारे तीर-तरकश टूट जाने के बाद उसके पास रह जाता है जीने का निःशब्द संकल्प और श्रम की ताकत - एक अडिग धैर्य और स्त्री होने की जिजीविषा... उसे लगता है कि उसके हाथ की छठी उंगली ही उसका भाग्य लिख रही है...और उसे ही बदलना होगा।...मुहावरेदार, जीवंत और खुरदरी लगने वाली भाषा की "गंवई ऊर्जा" मैत्रेयी का ऐसा हथियार है जो उन्हें अपने समकालीनों में सबसे अलग और विशिष्ट बनाता है...वह उपन्यास की शिष्ट और प्राध्यापकीय मुख्यधारा की इकहरी परिभाषा को बदलनेवाली निर्दमनीय कथाकार हैं। अपनी प्रामाणिकता में उनका हर चरित्र आत्मकथा होने का प्रभाव देता है और यही उनकी कथा-संपन्नता है। ..."झूला नट" की शीलो हिन्दी उपन्यास के कुछ न भूले जा सकने वाले चरित्रों

में एक है। बेहद आत्मीय, पारिवारिक सहजता के साथ मैत्रेयी ने इस जटिल कहानी की नायिका शीलो और उसकी स्त्री-शक्ति को फोकस किया है।"[71]

सचमुच में ऐसी स्त्रियां ही कुछ कर गुजरती हैं। सभ्य समाज की, शिष्ट कही जाने वाली, राई-रत्ती, लाभ-हानि का विचार करनेवाली, समाज की निंदा से फूंक-फूंक कर कदम रखने वाली औरतें क्या खाक जिएगी जिन्दगी? उपन्यास में एक स्थान पर कहा गया है – "शीलो की थू-थू। बालकिशन बेचारा बर्बाद कर डाला इस औरत ने। रखैल से बदतर....रंडी। रद्द की हुई औरत अब बिरादरी से रद्द। चुड़ैल, राक्षसी, बदकार...कमाल है, शीलो को परवाह नहीं। "निंदा" का अर्थ क्या है? उसने सोचना छोड़ दिया है, क्योंकि शाबाशियों ने उसकी जिन्दगी तबाह कर दी। फब्ती और गालियां ही असलियत से मुठभेड़ करती हुई धूल झाड़कर उठती थी बार-बार।"[72]

डा. खगेन्द्र ठाकुर ने "झूलानट" की कथा को "नारी-भक्ति की नई कथा" कहा है।[73] इसकी आलोचना करते हुए उन्होंने सुमेर को तो उड़ा ही दिया है – "इस प्रकार तीन मुख्य पात्र मिलकर एक त्रिभुज बनाते हैं, ये पात्र हैं - शीलो, बालकिशन और मां। निःसंदेह शीलोवाली भुजा सबसे बड़ी और सबमें अधिक दबंग है।"[74]

डा. गोपाल राय ने प्रस्तुत उपन्यास के संदर्भ में अपनी संक्षिप्त टिप्पणी में कहा है - "झूलानट" का विषय भी जाट समाज की एक पारिवारिक स्थिति है जिसमें सास-बहू, **माँ-बेटे, पति-पत्नी और देवर-भाभी के सम्बन्धों की कहानी एक खास** अन्दाज़ में कही गयी है। उपन्यास में कोई उल्लेखनीय विजन नहीं है; मां और पत्नीवत् भौजाई के सम्बन्धों के पाट में पिसते एक भोले जाट युवक का मानसिक उद्वेग ही उपन्यास में प्रमुख है। सास-बहू के सम्बन्धों के चित्रण

के साथ-साथ शीलो के रूप में एक जाट युवती के परंपरागत मूल्यों को चुनौती देने, स्त्री-संहिता को नकारने और विद्रोह की मुद्रा में तने हुए खड़े होने का चित्रण भी किया गया है। शीलो का चरित्र अपनी प्रकृति में कुछ-कुछ कृष्णा सोबती के "मित्रो" जैसा है। शीलो में सारंग की ही तरह अद्‌भुत जिजीविषा, अपना भाग्य स्वयं लिखने का संकल्प और समाज से अकेले लोहा लेने की क्षमता है। पर उसमें नारी शक्ति का कोई भास्वर रूप लक्षित नहीं होता।"[75]

उपर्युक्त आलोचना में जो अंतिम वाक्य है उससे लक्षित होता है कि मन्दा और सारंग की भांति शीलो नारी-शक्ति को जगाने का कोई काम नहीं करती, परंतु ऐसा कुछ कहे और किए बिना ही नारी-स्वतंत्रता का एक बिगुल तो बजा ही देती है कि यदि पुरूष पत्नी के रहते किसी अन्य स्त्री से यौन सम्बन्ध रख सकता है तो स्त्री को भी उसीकी भाषा में जवाब देना चाहिए। और जमीन-जायदाद के मामलों में सुमेर को धूल चटाकर यह कार्य इस जाट युवती ने कर दिखाया है।

(5) अल्मा कबूतरी (२०००) :

नोबेल पारितोषिक विजेता कथाकार आईजाक सिंगर का एक कथन है कि कथा-लेखन की प्रक्रिया की तीन प्रमुख बातें यह है..... (1) एक मुकम्मल कहानी होनी चाहिए। अभिप्राय यह कि कथ्य तगड़ा होना चाहिए। (2) कथा लिखने की मेरी नीयत होनी चाहिए और (3) मुझे यह अहसास होना चाहिए कि यह कथा में ही लिख सकता हूँ या लिख सकती हूँ।[76] यह लिखना इसलिए है कि कई बार कथ्याभाव में हमारे कथाकार चमत्कारपूर्ण शिल्प और अचेतन-अवचेतन की भूलभुलैया का सहारा लेते हैं। परंतु हमारा देश इतना विशाल है। उसमें संस्कृतियों, सभ्यताओं और जातियों का इतना वैविध्य है कि कोई

जागरूक और संवेदनशील लेखक हो तो अपने मनोनुकूल विषय वह ढूंढ ही लेगा। और यही मैत्रेयी ने इस उपन्यास में किया है। बहुत पहले डा.रांगेय राघव ने राजस्थान की करनट जन-जाति को लेकर "कब तक पुकारूं" की रचना की थी, लगभग उसी प्रकार का पर कुछ अधिक सफल प्रयास मैत्रेयीजी ने यहाँ किया है। यह बुंदेलखण्ड की एक जरायम पेशा जन-जाति "कबूतरा" को लेकर लिखा गया है। डा.गोपालराय के मतानुसार "अल्मा कबूतरी" उनके अब तक के प्रकाशित उपन्यासों में अधिक नयी और सशक्त रचना है।[77] इस पर उनको सार्क लिट्रेरी अवार्ड भी मिल चुका है।[78]

उपन्यास के प्रकाशकीय वक्तव्य में दिया गया है – "कभी-कभी सड़कों, गलियों में घूमते या अखबारों की अपराध-सुर्खियों में दिखाई देने वाले कंजर, सांसी. नट, मदारी, संपेरे, पारदी, हाबूड़े, बनजारे, बावरिया, कबूतरे – न जाने कितनी जन-जातियाँ है जो सभ्य समाज के हाथियों पर डेरा लगाए सदियाँ गुजार देती हैं – हमारा उनसे चौकन्ना सम्बन्ध सिर्फ कामचलाऊ ही बना रहता है। उनके लिए हम हैं कज्जा और "दिकू" – यानी सभ्य-सम्भ्रान्त, "परदेशी उनका इस्तेमाल करनेवाले शोषक -- उनके अपराधों से डरते हुए, मगर उन्हें अपराधी बनाए रखने के आग्रही। हमारे लिए वे ऐसे छापामार गुरिल्ले हैं जो हमारी असावधानियों की दरारों से झपट्टा मारकर वापस अपनी दुनिया में जा छिपते हैं। कबूतरा पुरूष या तो जंगल में रहता है या जेल में .. स्त्रियाँ शराब की भट्टियों पर या हमारे बिस्तरों पर .. इन्हीं अपरिचित लोगों की कहानी उठायी है कथाकार मैत्रेयी पुष्पा ने "अल्मा कबूतरी" में। यह बुंदेलखण्ड़ की विलुप्त होती जन-जाति का समाज-वैज्ञानिक अध्ययन बिल्कुल नहीं है, हालाँकि कबूतरा समाज का लगभग सम्पूर्ण ताना-बाना यहाँ मौजूद है – यहाँ

के लोग-लुगाइयाँ, उनके प्रेम-प्यार, झगड़े, शौर्य इस क्षेत्र को गुंजान किए हुए है ।"[79] यहाँ "यह विलुप्त होती जन-जाति का समाज-वैज्ञानिक अध्ययन बिल्कुल नहीं है" जैसी टिप्पणी इसलिए देनी पड़ रही है कि कई बार आलोचक - बाग इस प्रकार की टिप्पणियां देकर कृति की रचनात्मक ऊर्जा को खारिज कर देते हैं जिसे हम पूर्ववर्ती पृष्ठों में "चाक" के संदर्भ नें उदयन वाजपेयी की टिप्पणी में रेखांकित कर चुके हैं । गोया उपन्यास-लेखन के पूर्व किसी प्रकार का संशोधन-कार्य करना लेखक के लिए अपराध हो । बल्कि आंग्ल विवेचक व उपन्यासकार जेइम्स जायस कैरी इस प्रकार के "रीचर्स" को बहुत ही आवश्यक मानते हैं ।[80]

उपन्यास की कुल कथा इतनी है – मंसाराम कज्जा है और कदमबाई कबूतरा जाति की स्त्री -- कबूतरी । उपन्यास की आधी कथा मंसाराम और कदमबाई के प्रेम और घृणा की कहानी है । मंसाराम अपनी पत्नी आनंदी और कदमबाई के बीच में झूलता रहता है । इन सम्बन्धों के कारण उसके बेटे उससे नफरत करते हैं और जवान होने पर उसे बेदखल तक करने की हिम्मत करते हैं । कदमबाई भी कभी मंसाराम को प्रेम करती है और कभी नफरत क्योंकि उसके पति जंगलिया को मरवाने में मंसा का हाथ था और जंगलिया तब मारा जाता है जब एक खेत में मंसाराम कदमबाई के साथ शारीरिक सुख भोगने में लीन था । अंधकार में पहले-पहले तो कदम समझती है कि जंगलिया है पर बाद में उसके छूने के अंतर मात्र से वह समझ जाती है कि यह मंसाराम माते है पर फिर भी उस लीला में वह भंग नहीं डालती क्योंकि कबूतरा औरतों में यौन-, शूचिता के वह ख्याल नहीं होते जो कजाओं में होते हैं । मंसा-कदम के सम्बन्ध से राणा का जन्म होता है । कबूतरा समाज के लोग उसे कबूतरा बनाना चाहते है पर राणा असल में तो एक कज्जा का बेटा है । वह कबूतरों से नफरत करता

है और पढ़ना चाहता है। मंसा के प्रयत्नों से राणा को पाठशाला में प्रवेश भी मिल जाता है। मंसाराम के लड़के करन से राणा की मित्रता भी होती है, पर पाठशाला में राणा के साथ भेदभाव बरता जाता है और एक बार तो उस पर कुत्ते तक छोड़े जाते हैं। फलतः कदम डर जाती है और राणा को रामसिंह के यहाँ भेज देती है। वहाँ पहले रामसिंह की बेटी अल्मा से राणा की मैत्री होती है पर अल्मा के वयस्क होने पर राणा से उसके सम्बन्ध होते है और अल्मा उसे "पाठा मर्द" बना देती है, पर तभी राणा को ज्ञात होता है कि रामसिंह पुलिस का दलाल और मुखबिर बन गया है। इसी बीच एक नये रहस्य का घटस्फोट होता है कि जब किसी डाकू से मूठभेड होती है और उस एनकाउण्टर में डाकू के मरने की खबर प्रसारित होती है, तब वास्तविक रूप में डाकू के बदले किसी और को मारा जाता है। लाश को ऐसा कर दिया जाता है कि कोई उसे पहचान न सके और फिर वह डाकू अपने गाँव-वतन जाकर सफेद बाना धारण कर शेष जीवन आराम से बिताता है। अर्थात् डाकू के बदले किसी अन्य निर्दोष व्यक्ति की बलि चढ़ा दी जाती है। जब राणा को इस बात की गंध लग जाती है तब वह अल्मा को भी संदिग्ध नज़रों से देखने लगता है और एक दिन वहाँ से भाग खड़ा होता है। उपन्यास की नायिका अल्मा है, पर वह लगभग एक तिहाई उपन्यास के बाद पात्र-रूप में उपन्यास में आती है।[81]

राणा रामसिंह के यहाँ से भाग आता है और बेटाराम के बदले में जिन कबूतराओं को मरना था उनको वह सचेत कर देता है, फलतः डाकू बेटाराम वाली मूठभेड़े में रामसिंह की ही बलि चढ़ा दी जाती है। अल्मा अनाथ और निराधार हो जाती है। पुलिसों द्वारा वह अनेक बार बलात्कृत होती है पर वह टूटती नहीं है बल्कि इन्हीं बातों से वह साहस और हिम्मत जुटाती है। रामसिंह की बेटी होने के कारण वह कुछ पढी-लिखी भी थी। वह शीघ्र ही "शिकार"

होने की "दीन" अवस्था और अपराध-बोध से बाहर निकलकर, बेबसी हिकारत और तजन्य छटपटाहट के क्षणिक क्रोध से उबरकर एक ऐसी मानसिकता को धारण कर लेती है जिसमें वह कमजोर व्यक्तियों और जातियों के लिए कुछ कर गुजरना चाहती है। ऐसे में विपक्ष के नेता सूरजमान और समाज-कल्याण मंत्री श्रीराम शास्त्री की सोहबत उसे प्राप्त होती है। अपनी कमजोरी को ही वह अपनी शक्ति बना लेती है। सूरजमान और श्रीराम शास्त्री के कारण वह साम्प्रतिक राजनीति के तिकड़मी स्वरूप, उसकी ताकत और प्रभुता को बड़ी गहराई से समझ लेती है। श्रीराम शास्त्री की हत्या होती है और उसके बाद उपन्यास में अल्मा अप्रत्याशित रूप से चुनावी दंगल में कूद पड़ती है। उपन्यास में जिन स्थितियों का निर्माण लेखिका ने किया है उसमें विधान सभा का चुनाव वह जीत जायेगी ऐसे निर्देश प्राप्त होते है और पिछड़ी जनजाति की उम्मीद-वार होने के नाते बहुत संभव है कि वह मंत्री-पद को भी प्राप्त कर ले। इस प्रकार राजनीति के द्वारा "पोलिसी मेकिंग" में प्रत्यक्ष भागीदारी करके वह एक सम्मानजनक स्थान को सुनिश्चित कर लेती है। उपन्यास के इस अंत और अल्मा की इस परिणति को डा.गोपालराय ने लेखिका का नारीवाद को "लहकाने का" प्रयास कहा है,[82] परंतु हमें यह अंत न अप्रत्याशित लगता है, न अवास्तविक, बल्कि हमारे साम्प्रतिक राजनीतिक समीकरणों को देखते हुए यह बहुत सहज और स्वाभाविक लगता है। हमारे सामने मायावती, उमा भारती जैसे अनेक उदाहरण है जिसमें पिछड़े तबके की सतायी हुई और कभी शोषित रही नारियां राजनीतिक क्षेत्र में उभरकर आयी है। मैत्रेयीजी ने तो अपनी उस साम्प्रतिक वास्तविकता को ही उजागर किया है वहाँ नारीवाद का परचम लहराने जैसी कोई बात नहीं है।

बकौल डा.रोहिणी अग्रवाल के "अल्मा कबूतरी" जनजाति की तीन पीढ़ियों की संघर्ष गाथा का रोमांचक इतिहास है । पहली पीढ़ी भूरीबाई और वीरासिंह की, दूसरी पीढ़ी कदमबाई और रामसिंह की और तीसरी पीढ़ी राणा और अल्मा की या अल्मा और धीरज की ।[83] दूसरी ओर डा.गोपालराय अपनी समीक्षा में "अल्मा कबूतरी" को हारे हुए व्यक्तियों की कथा कहते है ।[84] परंतु हमारी दृष्टि में यह "हारे हुए" लोगों की कथा नहीं है, बल्कि संघर्षशील लोगों की कथा है जिसमें प्रथम दो पीढ़ियां तो फिर भी हारी है ऐसा कह सकते है पर अल्मा को हम हारी हुई नहीं कह सकते । वस्तुतः "हार" और "हारा हुआ" में अंतर है । हम "रंगभूमि" के सूरदास को हारा हुआ नहीं कह सकते । अल्मा कज्जाओं को जीतने के लिए कज्जाओं के ही औजारों का इस्तेमाल करती है, महात्मा गांधी की तरह वह साध्य और साधन की शुध्द्धता का आग्रह नहीं रखती । वह अपनी बदनामी और बेइज्जती को ही अपनी ताकत बना लेती है । डा.गोपालराय ने अपने ग्रन्थ हिन्दी उपन्यास का इतिहास "में प्रथम परिच्छेद में प्रस्तुत उपन्यास की बड़ी अच्छी सार्थक और सटीक समीक्षा की है – "भारत में आज भी कुछ ऐसी अभागी जनजातियाँ है जो आजादी का अर्थ नहीं जानती । उनके पास न अपनी जमीन है, न ठिकाने का घर बार । औपनिवशिक शासन ने इन्हें "जरायमपेशा" जाति घोषित कर न केवल तथाकथित "सभ्य" समाज की नज़रों में उपेक्षा और घृणा का पात्र वरन् पुलिस के अत्याचार का सबसे नरम चारा भी बना दिया । यद्यपि देश के आजाद होने के बाद इन जातियों को समान नागरिकता का अधिकार प्राप्त हो गया है, पर जीविकोपार्जन का कोई सम्मानजनक साधन न उपलब्ध होने के कारण इनके पुरुष अपराध-कर्म और स्त्रियां देह-व्यापार के लिए विवश होती हैं । भारत की पचपन वर्षों की आजादी ने भी इनकी नयी पीढ़ी को सम्मान-पूर्ण जीवन का कोई विकल्प नहीं दिया है ।

मैत्रेयी पुष्पा ने "अल्मा कबूतरी" में इस यथार्थ को गहरी संवेदना और जबरदस्त सर्जनात्मकता के साथ प्रस्तुत किया है।[85]

कानून या विधि-विधान के द्वारा समान अधिकार देने से भी क्या होगा ? भूरीबाई का पति वीरसिंह इसी सम्मान-पूर्ण जिन्दगी के लिए फौज में भर्ती होता है पर उसकी कबूतरा जाति के कारण वहाँ भी उसके साथ भेदभाव बरता जाता है और अन्ततः इस जातिगत घृणा के प्रदर्शन-स्वरूप ही उसे मार दिया जाता है। भूरी देह के रास्ते से गुजरकर भी अपने बेटे रामसिंह को पढ़ाती है और पढ़-लिखकर वह शिक्षक भी हो जाता है पर पुलिसवालों के लिए तो वह अपराधी ही रहता है और यहाँ भी अपनी कमाई से हप्ता देने के लिए उसे बाध्य किया जाता है, फलतः वह नौकरी छोड़कर उसी अपराध के रास्ते पर आगे बढ़कर पुलिस का ही दलाल बन जाता है[86] और उसीमें अपनी जान भी गंवा बैठता है। अभिप्राय यह है कि जब तक समाज की सोच में मूलभूत अंतर नहीं आयेगा इन लोगों की स्थिति में सुधार नहीं हो सकता। उसमें अल्मा एक रास्ता निकालती है जो कदाचित कारगर हो सकता है।

डा.रोहिणी अग्रवाल ने प्रस्तुत उपन्यास की समालोचना करते हुए यथार्थ ही कहा है –"साहित्य का लक्ष्य चूंकि मनुष्य है, इसलिए वह उसके मन, परिवेश, परिस्थितियों, सांस्कृतिक विरासत और इनके बीच चलते निरंतर संघर्ष से अनभिज्ञ रहकर उसकी मुकम्मिल तस्वीर प्रस्तुत नहीं कर सकता। असल में कोई रचना तभी क्लासिक होती है जब वह समाज के जरिए मनुष्य और मनुष्य के जरिए सनातन मूल्यों और सत्यों की प्रतिष्ठा करें --- (लेकिन) "अल्मा कबूतरी" के पात्र अभी संघर्ष के पहले चरण में है। समाज, सामाजिक प्रभुता, पद-प्रतिष्ठा और शक्ति जैसी स्थूल सांसारिक उपलब्धियां उन्हें भरमा रही है।

इसलिए फिलहाल उनसे मनुष्यता की बात करना और "मनुष्य" बनने का आग्रह करना बेमानी है।"[87]

हिन्दी साहित्य में यह उपन्यास एक नये क्षितिज के उद्घाटन के रूप में भी देखा जा सकता है। इसमें लेखिका ने "कबूतरा" जनजाति के जीवन को अपने उपन्यास का कथ्य बनाया है। ब्रिटिशरों के समय से कबूतरा जाति को अपराधी जाति के रूप में घोषित कर दिया गया था। चोरी-चकारी, ठगी, राहजनी, लूंटफाट, अवैध शराब बनाना और बेचना ये सारे गैरकानूनी काम ये लोग करते हैं या उनको ये सब करने का बाध्य कर दिया गया है। उपन्यास में कबूतराओं की जीवन-शैली को चित्रित किया गया है। कबूतरा समाज के लोग अन्य जाति के लोगों को "कज्जा" कहते हैं और उनको नफ़रत और हिकारत भरी नज़र से देखते हैं। ऊपर जिन अपराधों की सूची दी गई है उनमें कबूतरा बच्चों और किशोरों को प्रशिक्षित किया जाता है और इन सबमें जो बच्चा तेज़ होता है कबूतरा-समाज में उसका नाम होता है। कदमबाई का विवाह जिससे होता है वह जंगलिया इन सब बातों में होशियार था। अभिप्राय यह कि सभ्य समाज में जिन्हें दूषण माना गया है, वे तमाम बातें कबूतरा समाज के लिए भूषण है और आजादी के इतने वर्षो बाद भी इनका कोई भविष्य नहीं है। जंगल, जेल और अंततः कुत्ते की मौत मरना यही कबूतराओं का जीवन है। कोई वीरसिंह, कोई रामसिंह निकल भी आवे तो भी उसे आगे बढ़ने नहीं दिया जाता और धरधराकर उसे अपराध के ही रास्ते पर डाल दिया जाता है। बहुत पहले डा.रांगेय राघव ने "करनट" जाति को लेकर "कब तक पुकारूँ" नामक उपन्यास की रचना की थी, उसके बाद मैत्रेयीजी के इस प्रयास को स्तुत्य ही कहा जाएगा। गुजरात के सौराष्ट्र युनिवर्सिटी के प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष डा.बी.के.कलासवा साहब ने आदिवासी जीवन केन्द्रित उपन्यासों पर कार्य

किया है । उनके शोध-प्रबंध में इस कबूतरा जाति की जीवन-शैली, उनके रीति-रिवाज, उनकी मान्यताएं, विश्वास-अविश्वास, लोकगीत, लोककथाएं इत्यादि का विस्तृत विवेचन किया गया है और उस सबमें प्रस्तुत उपन्यास को ही आधार बनाया गया है ।[88]

"अल्मा कबूतरी" को सार्क लिटररी अवार्ड से नवाज़ा गया है । मैत्रेयी के इस उपन्यास पर जमकर साहित्य-जगत में चर्चाएँ हई हैं, जिनमें सकारात्मक-नकारात्मक दोनों प्रकार की हैं । फाउण्डेशन की अध्यक्षा अजीत कौर ने बताया, हमारी जूरी में यह बात भी उठी थी कि मैत्रेयी पुष्पा के लिए राजेन्द्र यादव लिखते हैं । तब मैंने कहा, राजेन्द्र यादव एक अल्मा कबूतरी लिखकर बता दें, तब मैं मान जाऊं ।[89]

नवम्बर 2000 के हंस की संपादकीय में राजेन्द्र यादव प्रस्तुत उपन्यास के संदर्भ में लिखते हैं – "अल्मा कबूतरी" से पहले यदि ऐसा कुछ ध्यान में आता है तो है कर्नल स्लीमैन की पुस्तक "अमीर अली ठग की आत्मस्वीकृतियां" । इसके बाद रांगेय राघव का नटों पर लिखा उपन्यास "कब तक पुकारूँ" भी इसमें शामिल किया जा सकता है । ये अलग तरह की, अलग समाजों की रचनात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं । इन्ही के संदर्भ में कहता हूँ कि उभरती हुई शक्तियों से जुड़ना क्या हमेशा सम्पादकीय पक्षपात या अपराध होता है ? "अल्मा कबूतरी" को मैं मैत्रेयी के लेखन का महत्वपूर्ण मोड़ मानता हूँ? क्योंकि उसने हिन्दी समीक्षकों को अजीब पसोपेश में डाल दिया है ।"[90]

(6) अगनपाखी (2001) :

"अगनपाखी" के संदर्भ में ऐसा कहा जाता है कि वह जलकर जलने के बाद जीवित हो जाता है । प्रस्तुत उपन्यास की नायिका भुवन भी सांसारिक तापों

में जलकर – तपकर जीवित हो जाती है । डा. नामवर सिंह ने इस उपन्यास का स्त्रीविमर्श के साथ साथ सती-विमर्श और संपत्ति विमर्श का उपन्यास भी कहा है । भारतीय सामंती परिवारों में पति की मृत्यु के बाद उसकी पत्नी को धर्म, शास्त्र और परंपरा के नाम पर सती बनाने के लिए मजबूर किया जाता है । जहाँ इधर के विधि-विधानों ने स्त्री को उसके पति की संपत्ति में अधिकार दिये हैं पर सामंती मूल्यों में जीनेवाले लोग स्त्री को जबरन सती बनाकर उसे संपत्ति से बेदखल कर देते है । सती प्रथा कानूनन बन्द हो गयी है पर आज भी उसे गौरवान्वित करके देखा जाता है, अन्यथा राजस्थान में राजकुंवर बा सती का मंदिर न बनता । वस्तुतः होना तो यह चाहिए कि सचमुच में कोई स्त्री भावावेश में आकर सती होना चाहती हो तो भी समाज के ठेकेदारों का यह दायित्व बनता है कि उसे समझावे और ऐसा करने से रोके । परंतु यहाँ तो जेठ अजयसिंह भुवन को बाकायदा सती बनने के लिए उसे विवश करते हैं । भुवन के पति कुंवर विजयसिंह के निधन के बाद कुंवर अजयसिंह उसकी तमाम चल-अचल संपति पर कब्जा करने के लिए ही तो यह नाटक रचता है । परतुं मंदिर के पुजारी की सकारात्मक भूमिका के कारण भुवन बच निकलती है । पुजारीजी भुवन को गुप्त मार्ग से बाहर निकालकर घने जंगल में भेज देते है जहाँ निर्धारित स्थल पर चंदर भुवन को मिलता है । दामिनी नामक एक युवती इन दोनों को इन्दरगढ़ में रहने वाले एक सामाजिक कार्यकर्ता डा. सीताकिशोर खरे और डा. कामिनी के पास पहुंचा देती है ।

उपन्यास की कथा कुछ इस प्रकार की है : "अगनपाखी" की कथा की शुरूआत भुवनमोहिनी की चिट्ठी से होती है । भुवन ने यह चिट्ठी चंदर को लिखी थी । चंदर भुवन की बड़ी बहन का बेटा है और इस तरह रिश्ते में वह भुवन का भांजा होता है और वह उसका हमउम्र भी है । उनमें सिर्फ चार महीनों

का अंतर है। शैशव और किशोरावस्था दोनों की साथ-साथ गुजरी है। बचपन के खेल, अठखेलियां, पेड़ पर चढ़ना, पत्थर मारकर फल गिराना आदि शरारतें साथ-साथ की हैं। भुवन चंदर को शीतलगढ़ी (भुवन का मायका और चंदर का ननिहाल) का इतिहास – भूगोल समझाती, मानो शीतलगढ़ी कोई गाँव न होकर इतिहास प्रसिद्ध स्थल हो और भुवन उसकी गाइड।

ब्रज में जिसे "लरिकाई को प्रेम" कहते हैं, वैसा प्रेम भुवन और चंदर के बीच विकसित होता है और किशोरावस्था तक पहुंचते-पहुंचते एक गाढ़ रिश्ते में बदलने लगता है। यहाँ पर मैत्रेयीजी ने किशोरावस्था के इस शारीरिक आकर्षण का बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से वर्णन किया है। चंदर अपनी भुवन मौसी को प्यार भी करता है और दूसरी ओर अपनी पढ़ाई में भी मन लगाना चाहता है, पर मन बार-बार चलित हो जाता है और वह किसी-न-किसी बहाने शीतलगढ़ी पहुंच जाता है। चंदर और भुवन दोनों में प्रेम हिलोरें लेने लगता है और एक दिन चंदर अपने मन पर काबू नहीं रख पाता और चुपचाप भुवन मौसी के पलंग के सामने जाकर उसे जगाने की कोशिश करता है। भुवन भी कहां सो रही थी। उसे भी शायद इसी क्षण की प्रतीक्षा थी। दोनों एक दूसरे को आलिंगन में भींच लेते है। भुवन भी चंदर को अपने आगोश में ले लेती है और दोनों शारीरिक मिलन में लीन होने ही वाले थे कि दादी ढिबरी जलाकर वहाँ पहुंच जाती है और उनकी रति-क्रीड़ा के रंग में भंग पड़ता है। दोनों को इस विचित्र स्थिति में देखकर दादी तो मानो आगबबूला हो जाती है और क्रोधावेश में रस्सी का फंदा बनाकर आत्महत्या करने का प्रयास करती है। चंदर उनके पैरों में लिपट जाता है और रातोंरात गाँव वापिस चला जाता है।[91]

इधर इस घटना के बाद नानी भुवन की शादी जल्द से जल्द कराना चाहती है। चंदर किसी तरह इस समूची घटना को भुलाकर अपनी "कैरियर"

बनाने में जुट जाता है। उसके पिताजी बारंबार एक बात को दोहराते थे कि मर्यादा और परंपरा निभाने वाला बेटा ही सपूत कहलाता है। हो सकता है उन्हें भुवन और चंदर के सम्बन्धों की भनक लग गई हो। अपनी मेहनत और पिताजी की सिफारिश के कारण चंदर को असिस्टेंट डेवलोपमेण्ट आफिसर की नौकरी मिल जाती है और वह नौकरी के नये काम में लग जाता है और धीरे-धीरे भुवन को भूलने की कोशिश करता है।

इधर भुवन की शादी विराट के अजयसिंह के छोटे भाई कुंवर विजयसिंह से हो जाती है। भुवन भी अपने लरिकाई के प्रेम को भूल जाती और चंदर भी किसी से शादी करके अपना घर बसा लेता क्योंकि अच्छी नौकरी के बाद लड़की वाले लोग रिश्ता लेकर पहुंच जाते हैं। बल्कि उनमें होड़-सी मच जाती है। विवाह में जाति-बिरादरी और एक आर्थिक आधार ही मूलभूत बातें समझी जाती है। परंतु सब ठीकठाक नहीं होता। प्रथा के अनुसार भुवन जब विवाह के बाद शीतलगढ़ पहुंचती है तब मां और बड़ी बहन उसे महामाई का आर्शीवाद दिलाने मंदिर ले जाती है। वहाँ भुवन फूट-फूटकर रोने लगती है और उसके घर वालों को पता चलता है कि उनके साथ, भुवन के साथ बहुत बड़ा धोखा हुआ है। कुंवर विजयसिंह शारीरिक रूप से ठीक नहीं है और उनका मानसिक सतुंलन भी बारबार गड़बड़ा जाता है। ससुराल में पागल पति की सेवा करने के अतिरिक्त भुवन का कोई काम नहीं है। खूब वैभव है, नौकर-चाकर है। पर पति का सुख भुवन को नहीं मिलता।

भुवनमोहिनी पति की सेवा और भक्ति में अपना मन लगाना चाहती है, पर ससुराल वालों को, विशेषतः भुवन की सास, जिठानी कुसुमदेवी और जेठ कुंवर अजयसिंह को यह नागवार गुजरता है कि भुवन रोज-रोज मंदिर पहुंच जावे। भुवन मंदिर में कई बार लीन हो जाती। उसके ससुराल वालों को यह

सब पसंद नहीं था । उन्हें दिनरात यह चिन्ता लगी रहती है कि कुंवर विजयसिंह की बीमारी की बात कहीं जाहिर न हो जाए ।

इस बिन्दु पर यह कहानी मीराबाई की कहानी से मेल खाती है । मीराबाई का विवाह जिनसे हुआ था वे यक्ष्मा से पीड़ित थे और कुछ ही समय में उनकी मृत्यु हो गई थी । मीरा भी भक्ति करना चाहती थी । मंदिर जाना चाहती थी, पर राज-परिवार को यह सब मान्य नहीं था । अतः मीरा के देवर राणा कई बार मीराबाई को मरवाने के प्रयत्न भी करते है पर हर बार मीरा किसी-न-किसी तरह से बच जाती थी । यहाँ भुवन के साथ भी लगभग यही होता है ।

कुंवर विजयसिंह की हालत और बिगड़ती जाती है, फलतः उनको आगरा के मानसिक रोगियों के अस्तपाल में दाखिल किया जाता है । इधर इस बात को लेकर सास-बहू के रिश्ते भी बिगड़ते जाते हैं और भुवन की सास बात-बात में ताने मारती रहती है क्योंकि उनको यह कतई पसंद नहीं है कि भुवन चंदर को मिले । चंदर को भुवन की जो दूसरी चिट्टी मिलती है उसमें भुवन के संन्यास लेने की और जोगिनी बन जाने की बात भी थी । इन सब बातों से नानी भी घबड़ा जाती है, अतः वह चंदर को विराट जाने के लिए कहती है कि वह भुवन को संन्यासिनी बनने से किसी तरह रोक ले । विराट पहुंचकर चंदर को सही वस्तु-स्थिति का पता चलता है । भुवन आगरा जाने के लिए कहती है, अतः चंदर उसे लेकर आगरा जाने का फैसला करता है । कुंवर अजयसिंह उसे रोक लेते हैं । इसी बीच कुंवर विजयसिंह की मृत्यु हो जाती है और चंदर को एक और भयानक खबर मिलती है कि भुवन सती होना चाहती है ।

वास्तविकता यह थी कि भुवन को सती होने के लिए विवश किया जा रहा था, ताकि कुंवर विजयसिंह की संपत्ति को कुंवर अजयसिंह अकेले डकार

ले। भुवन तो अपने मायके शीतलगढ़ी जाना चाहती थी, पर न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी वाली कहावत को उसके जेठ चरितार्थ करना चाहते थे। इस प्रकार स्त्रियों को जो सती बनने के लिए उकसाया जाता था या उन्हें जबरन सती बना दिया जाता था उसके पीछे के षड्यंत्रकारी कारणों की पड़ताल भी लेखिका यहाँ करती है। इसीलिए डा.नामवरसिंह इसे अपने व्यंग्यात्मक टोन में स्त्री-विमर्श के साथ सती-विमर्श और संपत्ति-विमर्श का उपन्यास भी कहते है।[92]

प्रस्तुत उपन्यास के कुंवर अजयसिंह बड़ी पहुंची हुई माया लगते हैं। वे तो चंदर का कांटा निकालने के लिए भी उसका विवाह दामिनी नामक लड़की से करा देना चाहते थे, परंतु चंदर इसके लिए राजी नहीं होता क्योंकि चंदर को मालूम था कि दामिनी मंदिर के पुजारी के बेटे राजेश को प्रेम करती है। राजेश ब्राह्मण है और दामिनी गूजर लड़की है इसलिए भी ये लोग विवाह करने से डरते थे। कुंवर साहब एक कंकड़ से दो पक्षी का शिकार करना चाहते थे। चंदर का कांटा भी दूर होता और विराट में ब्राह्मण-गूजर लड़की की प्रेम-लीला को भी रोका जाता। खैर, यह एक दूसरे उपन्यास का विषय है।

मंदिर के पुजारी की सकारात्मक भूमिका के कारण भुवन को बचा लिया जाता है और चंदर और भुवन को इन्दरगढ़ डा.सीताकिशोर खरे के यहाँ पहुंचा दिया जाता है। दैनिक जागरण में कुंवर अजयसिंह "अनूठा सती अनुष्ठान" शीर्षक से बयान जारी करते हैं कि भुवन साक्षात मां दुर्गा का रूप थी और बेतवा में छलांग लगाकर अपना देह विलय करते हुए वह विराट की सती-परंपरा को निभा गयी। लाश न मिलने पर भुवन का पुतला बनाया गया था और उसे सुहागिन की तरह सजाकर पति के पार्थिव शरीर के साथ चिता में रखा गया था। उस वृतान्त में आगे यह भी लिखा था कि मां दुर्गा की दया रही तो उनके

स्वरूप समान भुवन के नामका सोने के छत्रवाला मंदिर भी निर्मित होगा।[93] यह सब कुंवरजी ने इसलिए छपवाया था कि अपने भाई की संपत्ति पर उनका कब्जा हो जाए।

भुवन की चिट्ठी मिलने पर चंदर जब विराटा जाता है तब उसे एक और सच्चाई का पता भी चलता है। चंदर के मन में संशय तो था ही कि कुंवर अजयसिंह जैसे नामी-गिरामी और धनवान परिवार ने भुवनमोहिनी जैसी लड़की से कुंवर विजयसिंह का विवाह क्यों करवाया ? पर विराट पहुंचकर उसे यह भी ज्ञात होता है कि उसे पिताजी ने जो नौकरी दिलवायी थी, उसमें ही भुवन के ब्याह का सौदा हुआ था कि चंदर के पिता भुवन से कुंवर के रोगी भाई से विवाह करवा दे और बदले में वे चंदर की नौकरी लगवा देंगे। इस तथ्य को जानने के बाद चंदर का अपराध-बोध और भी बढ़ जाता है। उसे यह बात बारबार कचोटती है कि भुवन की उस बदहाली में वह भी कहीं-न-कहीं जिमेदार है ही।[94] और उसके बाद ही भुवन के लिए कुछ कर गुजरने का माद्दा शायद उसमें पैदा होता है।

वस्तुतः देखा जाए तो "अगनपाखी" मैत्रेयी की उपन्यासिका "स्मृतिदंश" का ही नवीन रूप है। पात्र, स्थल, परिस्थितियां, समस्याएं सभी वही है, परंतु "स्मृतिदंश" की भुवन बेतवा में डूबकर आत्महत्या कर लेती है, जबकि "अगनपाखी" की भुवन तो अपने हक के लिए लड़ती है, वह कचहरी में हलफनामा दाखिल कर अपनी उजदारी प्रकट करती है – "मैं भुवनमोहिनी, पत्नी स्वर्गीय विजयसिंह वल्द स्वर्गीय दुरजयसिंह, निवासी ग्राम विराटा, जिला झांसी, यह दावा करती हूं कि अपने पति के हिस्से की चल-अचल संपत्ति की हकदार हूं। मुझे इत्तला मिली है कि मेरे पति के साथ मुझे भी मृतक दिखाया गया है और मेरे जेठ कुंवर अजयसिंह ने अपने अकेले का हक बरकरार रखा है

। क्योंकि स्व. विजयसिंह की कोई संतान नहीं। कचहरी से अर्ज है कि अपने पति की जायदाद का हक मुझे सौंपा जाए। मैं कुंवर अजयसिंह की हकदारी पर सख़्त एतराज़ करती हूं।"[95]

"तहसील में जब अर्जी पढ़ी गई तो जानकार लोग सन्न से रह गए। कुंवर अजयसिंह का चेहरा पीला पड़ गया जैसे उन्होंने सामने बाघिन देख ली हो, जब कि वहाँ कोई स्त्री उपस्थित नहीं थी।"[96] इस प्रकार "स्मृतिदंश" की "गौ" ने अब "बाघिन" का रूप ले लिया है। "इदन्नमम" की मन्दा, "चाक" की सारंग, "झूलानट" की शीलो और "अल्मा कबूतरी" की अल्मा की भांति प्रस्तुत उपन्यास की "भुवन" भी एक फौलादी औरत है। ऐसा लगता है कि मैत्रेयी की नायिकाएँ शुरु में गौ और दब्बू लगती हैं, परंतु जब उनके अस्ति पर आ बनती है, तब वे संघर्ष के लिए उठ खड़ी होती हैं और अपनी नारी-शक्ति का परिचय करा देती हैं। उपन्यास के एक आलोचक डा.अनंत विजय ने प्रस्तुत उपन्यास की आलोचना करते हुए लिखा है : "अगर हम मैत्रेयी के सारे उपन्यासों पर निगाह डालें तो देखते है कि इनकी सारी नायिकाएँ चाहे वो "इदन्नमम" की मन्दाकिनी हो, "चाक" की सारंग हो, "झूलानट" की शीलो हो, "अल्मा कबूतरी" की अल्मा हो या फिर "अगनपाखी" की भुवन या "विजन" की डा.नेहा हो, सभी बीस-पचीस साल की युवा है। इसका कोई आलोचकीय महत्व हो या न हो, परंतु यह तथ्य है दिलचस्प। संभवतः यही कारण है कि मैत्रेयी के उपन्यास युवा-वर्ग, गैर शहरी समाज द्वारा पसंद किए जाते है तथा वृद्ध आलोचकों, शहरी संभ्रान्तों द्वारा कम। अपने समकालीनों में मैत्रेयी सबसे अलग हैं महाश्वेतादेवी की तरह।"[97] प्रस्तुत उपन्यास के अन्य आलोचकों में डा.राजनारायण बोहरे ने इसे "ग्रामीण स्त्री की महागाथा" कहा है तो

डा.रामप्रकाश द्विवेदी ने इसे "आग से जलते-जूझते पाखी" की कथा कहा है ।[98]

उपन्यास की भूमिका "पुनर्नवा" में मैत्रेयीजी स्वयं उपन्यास के संदर्भ में लिखती है – "मुझे "स्मृतिदंश" के पुनः पाठ ने लगभग झकझोर डाला और मैं यहाँ तक आ गई कि -- यह तो वह है ही नहीं. जो मैं कहना चाहती थी । मेरे इस विचार को बल दिया इसी रचना की नायिका भुवन ने । परेशान कर डालने की सीमा तक उसने मेरा पीछा किया । जिद भी बड़ी अटपटी – कि उसे इस रूप में नहीं होना था । ऊपर से असहाय होने के कारण विनम्र दिखने वाली स्त्री भीतर से किस ताकत का सपना देखती है, लेखिका यह क्यों नहीं समझी ? उसके साथ न्याय नहीं हुआ । .. ऐसा करते करते एक-दो साल नहीं, चार-छः वर्ष नहीं, पूरे ग्यारह साल बीतने को है । मैं उसे निरंतर टालती रही । एक दिन अचानक लगा कि उसने मेरी कलम पकड़ ली है । कागज़ पर कब्ज़ा कर लिया है । .. आश्चर्य तब हुआ जब लिखते-लिखते लगा कि भुवन इन बीते वर्षो में मेरे भीतर नया आकार लेती रही है । नया कलेवर उसने कैसे धारण किया ? उसका पहला रूप झूठा था, या यह दूसरा ? शायद वह मेरा उस समय का सच था, और यह आज का । मैं ही खुद को भुवन के रूप में रखकर अपने आप से लड़ रही थी और परिवर्तन के लिए विद्रोह तक जाने में कभी चार कदम बढ़ाती तो कभी दो कदम पीछे हटती ।"[99]

(7) विज़न (2002) :

"काम्पेक्ट आक्सफर्ड रेफरन्स डिक्शनरी" में "विज़न" शब्द के निम्नलिखित अर्थ दिए है – 1. The Faculty of being able to see अर्थात् देखने की शक्ति – दृष्टि : 2. The ability to think about the future

with imagination or wisdom अर्थात् भविष्य के सम्बन्ध में कल्पना या समझदारी से सोचने की शक्ति; 3. An experience of seeing something in the mind अर्थात् किसी के मन में चल रही किसी बात को समझने का अनुभव और 4. The images seen on a television screen[100] अर्थात् दूरदर्शन के पर्दे पर दिखनेवाले बिम्ब। मोटे तौरे पर इन सबका मिलाजुला अर्थ है दृष्टि और दृष्टिकोण। उपन्यास की कथावस्तु "नेत्र-चिकित्सा" से जुड़ी हुअी है, अतः उसका एक प्रथम और प्रत्यक्ष अर्थ तो दृष्टि से है। दूसरा अर्थ व्यंजक और व्यंग्यात्मक है। पढ़े-लिखे, सुशिक्षित, "वेल एज्युकेटेड" व्यक्ति के दृष्टिकोण में व्यापकता और उदारता और मानवता अपेक्षित है, परन्तु यहाँ उसका विलोम देखा जाता है। मेडिकल सायन्स में "नेत्र-विशेषज्ञ" प्रायः मास्टर डीग्री वाले डाक्टर होते हैं, सामान्य एम.बी.बी.एस. नहीं। ऐसी आंखो की अस्पताल में जो बड़े-बड़े डाक्टर हैं उनकी सोच कितनी छोटी और घटिया, उनका "विज़न" कितना संकुचित और स्वार्थलिप्त होता है, उस बात को मैत्रेयीजी यहाँ लेकर आयी हैं। यह तो सर्वविदित तथ्य है कि मैत्रेयीजी के पति डाक्टर हैं और पहले अलीगढ़ और बाद में एम्स् में सेवारत रहे हैं। अतः मेडिकल-जगत के अपने अनुभवों के आधार पर मैत्रेयीजी ने यह उपन्यास लिखा है। पिछले एक दशक में मैत्रेयीजी एक लेखकीय चुनौती के रूप में उभर आयी है, एक से एक नये विषय, नया अनुभव जगत और एक से एक नयी मानवीय समस्याओं और सरकारों से सीधी प्रत्यक्ष भिड़न्त। इसके कारण हिन्दीतर क्षेत्रों में तथा ग्रामीण क्षेत्रों में मैत्रेयीजी की कलम का लोहा मानने वाले लोग बहुत हैं, परंतु इसके कारण ही उनकी अपनी बिरादरी-लेखिकाओं की बिरादरी में उनके कुछ शत्रु या विरोधी भी बढ़ रहे हैं।

मैत्रेयीजी का यह उपन्यास एक और दृष्टि से भी महत्वपूर्ण और अलग है, क्योंकि इसमें इन्होंने पहली बार नगरीय-महानगरीय जीवन को लिया है। डा.अर्जुन चव्हाण के शब्दों में कहें तो "यह सच है कि उपन्यास हो या कहानियाँ, अब तक न मैत्रेयी ने गाँव का दामन छोड़ा और न गाँव ने मैत्रेयी का। यही वजह है कि आलोचना-जगत में मैत्रेयी को लेकर जो विशिष्ट धारणा बनी वह गंवार गाँव की लेखिका के रूप में ही है।"[101] हालांकि इसे स्वस्थ आलोचना नहीं कह सकते। "फीनलैंड" जैसे छोटे-से प्रदेश पर ही लिखने वाले एक उपन्यासकार को नोबेल पुरस्कार तक मिला है। अपनी जड़ों को तलाशना और अपनी जड़ों में जाना लेखकीय ईमानदारी है और उसकी सराहना ही होनी चाहिए, न कि आलोचना। सही आलोचना और फतवेबाजी में अंतर होना चाहिए।

पश्चिम में अलग-अलग प्रोफेशन को केन्द्र में रखकर भी उपन्यास लिखे गए हैं। हमारे यहाँ इसका सर्वथा अभाव है, ऐसा तो नहीं कह सकते, पर हाँ, ऐसे कम उपन्यास लिखे गए हैं। गोविन्दवल्लभ पंत का "मदारी", सत्यकेतु विद्यालंकार का "मोडर्न होटल", संजीव के "सर्कस" और "सावधान नीचे आग है" आदि को "प्रोफेशन सैण्टर्ड" उपन्यास कह सकते हैं।[102] वेश्यावृत्ति को यदि प्रोफेशन माना जाए तो मधु कांकरिया कृत "सलाम आखिरी" को इस सूची में शामिल किया जा सकता हैं क्योंकि उसमें कलकत्ता के रेड लाइट एरिया "सोनागाछी" और "बहु बाजार" आदि की वेश्याओं पर लिखा गया है। इस प्रकार के उपन्यासों को "अनुसंधानमूलक" उपन्यास भी कह सकते हैं। प्रस्तुत उपन्यास "प्रोफेशन सैण्टर्ड" की कोटि में तो आता ही है, अनुसंधानमूलक भी है। किन्तु इस उपन्यास की यह भी एक विशेषता है कि "मेडिकल फील्ड अर्थात् नेत्र-चिकित्सा के क्षेत्र पर केन्द्रित होते हुए भी एक समकालीन भारतीय

जिन्दगी के विशाल कैनवास को प्रस्तुत करता है । इसमें दिल्ली तथा आगरे जैसे महानगर की महंगी जिन्दगी, वहाँ का शिक्षित एवं वेतनधारी मध्यवर्ग, शिक्षा क्षेत्र का कृष्ण-धवल रूप, स्थापितों द्वारा नयी पीढ़ी का शोषण, बेरोजगारी का शिकार युवा वर्ग, स्वदेश में शिक्षा ले विदेश में सेवा करने वाला युवा वर्ग, नौकरी की नियुक्तियों में हो रही गन्दी राजनीति, सच्चाई को दफनानेवाली और झूठ को अपनाने वाली घोर व्यवस्था, पुरूषों के वर्चस्व में दबी अवसर से वंचित नारी, विद्रोही और नौकरीपेशा नारी के चित्रण के साथ-साथ विज्ञान, तकनीक, औद्योगिकीकरण, महानगरीयकरण तथा वैश्वीकरण के बढ़ते माहौल में वर्तमान मानव की द्वन्द्वात्मक और संघर्षपूर्ण जिन्दगी के बीच स्वस्थ दृष्टि की ही नहीं बल्कि दृष्टिकोण की भी तलाश है ।"[103]

कई बार ऐसा लगता है कि हमारा देश, समाज, राष्ट्र, संस्कृति सर्वत्र दोहरें मूल्यों का बोलबाला है । सब जगह हाथी के दिखाने और चबाने के दांत अलग-अलग है । मसलन धर्म को ही लें तो उसमें तत्वतः जो हमें बताया या सिखाया जाता है, व्यवहारतः नजारा कुछ और है । वही बात शिक्षा इत्यादि पर भी लागू होती है । कई लोग शिक्षा में आरक्षण का विरोध करते हैं और तर्क यह देते हैं कि कम मैरिट वाले लोग एंजिनियर या डाक्टर बनेंगे तो उनमें वह दक्षता नहीं आयेगी ; अब जो धनवान मां-बाप हैं वे चालीस-पचास या साठ लाख का डोनेशन देकर अपने बच्चे को (बेशक, कम मैरिट वाले को) एंजिनियरिंग या मेडिकल में प्रवेश दिलवाते हैं तो क्या अब दक्षता या गुणवत्ता का नुकसान नहीं हो रहा है या "सर्व गुणा : कांचनम् आश्रयन्ते" के न्याय से वे कम मेरिट वाले भी दक्ष और निष्णात हो जाते हैं ।

चूँ कि उपन्यास का परिवेश मेडिकल-फील्ड का है, अतः इसके अधिकांश पात्र डाक्टर्स हैं, जैसे – डा.आर.पी.शरण, डा.अजय शरण, डा.नेहा

भटनागर (बाद में डा.नेहा शरण), डा.आभा, डा.मुकुल, डा.अनुज वर्मा. डा.चोपड़ा, डा.आलोक, सरोज आदि-आदि । इनमें से डा.नेहा, डा.आभा, डा.आलोक आदि मानवीय मूल्यों में जीनेवाले कुछ आदर्शवादी पात्र हैं । मेडिकल कालेज में सर्विस करते समय डा.अनुज वर्मा सरोज नामक एक स्त्री का बलात्कार करता है । परंतु डा.चोपड़ा हेड आफ द डिपार्टमेण्ट थे और उनकी सहायता से डा.वर्मा बाइज्जत बरी हो जाते हैं । इस बात को लेकर डा.आभा और डा.चोपड़ा में खूब लिखा-पढ़ी होती है, जिसके कारण डा.चोपड़ा डा आभा को मां-बहन की गालियां तक देता है । डा. नेहा और डा.अजय पति-पत्नी है और दोनों "आई स्पेशियालिस्ट" है और डा.आर.पी.शरण के "शरण आई सेण्टर" से संलग्नित है । बल्कि डा.आर.पी.शरण डा.अजय के पिता है । डा.आभा और डा.मुकुल भी पति-पत्नी है । डा.आलोक भी एक प्रतिभासंपन्न और आदर्शवादी डाक्टर है । डा.चोपड़ा का विरोध और डा.आभा का साथ देने के कारण डा.चोपड़ा डा.आलोक को एक मौत के केस में फंसा देता है, जिसके कारण डा.आलोक को वहाँ से त्यागपत्र देना पड़ता है । उसके बाद वह बरनवाल के प्राइवेट अस्पताल में नौकरी करते हैं परंतु वहाँ भी उन्हें सताने और ठगने का उपक्रम चालू रहता है, फलतः थक-हारकर डा.आलोक विदेश चले जाते है । उपन्यास का देशगत परिवेश दिल्ली, आगरा, बरेली आदि का है, जिनमें से प्रथम दो की गणना महानगरों में हो सकती है ।

मेडिकल-जगत का परिवेश होने के कारण इसमें उससे सम्बन्धित समस्याओं को उठाया गया है । अभी कुछ महीनों पूर्व आमीरखान के टी.वी.प्रोग्रेम" सत्यमेव जयते" में भी इन प्रश्नों को उठाया था कि किस प्रकार यह मानवता और सेवा का व्यवसाय फक्त आर्थिक मुनाफा कमाने का व्यवसाय होता जा रहा है, इलाज कैसे दिन-ब-दिन महंगा होता जा रहा है, बिन-जरूरी टेस्ट करवाकर कैसे अपने मित्र डाक्टरों का या मिलीभगत वाले डाक्टरों का

फायदा और उसमें उनका अपना कमीशन कमाना और बीमारों को लूटना, इलाज के प्रति लापरवाही, उसमें लोगों की जानें तक जाना जैसी अनेक चौंकानेवाली बातें आयी हैं। डा. आर. पी. शरण का "शरण आई सेण्टर" ऐसी ही एक पैसा कमानेवाली फैक्टरी है।

अस्पतालों में नियुक्तियों से लेकर तमाम प्रकार के जो गोरखधंधे चलते हैं, गन्दी राजनीति चलती है उसका पर्दाफाश डा. आलोक के इस कथन से हो जाता है – "घटिया हमारा कालेज है या आल इण्डिया इंस्टिट्यूट आफ मेडिकल साईसेज? महाघटिया इंस्टिट्यूट है साली ! हर शाख पै उल्लू बैठा है अंजामे गुलिस्तां क्या होगा? हर विभाग में बाप बैठे हैं, बेटों के एलजीबिल होने तक पोस्ट खाली है। साले हेड आफ द डिपार्टमेण्ट हैं या रूलिंग पार्टी के अध्यक्ष? ....सारे डिपार्टमेंट में एडहोक अपाइंटमेंट्स हुए, नेत्र विभाग इकलौता अपने वारिस सलीम की राह देखता रहा, डा. आभा के चार साल बेकार गए। बाद में भी पोस्ट नहीं दी, क्योंकि आभा आगे चलकर पुत्रश्री पर भारी पड़ जाएगी।"[104]

शिक्षा और चिकित्सा में नियुक्तियों का राजकारण नहीं होना चाहिए, पर ये विभाग भी भ्रष्टाचार से अछूते नहीं रहे हैं। मांझी ही नाव डूबाने बैठे हैं।

चिकित्सा जगत की तमाम समस्याओं को तो लिया ही है, पर यहाँ भी मैत्रेयीजी अपना अहम मुद्दा नारी अस्मिता का मुद्दा नहीं चूकी है। डा. आभा और डा. नेहा इसका प्रतिनिधित्व करते हैं। इन पढ़ी-लिखी सुशिक्षिताओं का भी आत्म-शोषण और प्रतिभाशोषण हो रहा है। दो डाक्टर जोड़े हैं। डा. आभा और डा. मुकुल तथा डा. नेहा और डा. अजय। डा. आभा दिल्ली के एक अमीर बाप की बेटी है। वह बरेली के डा. मुकुल से विवाह करके बरेली जैसे छोटे शहर में जाती है, पर शीघ्र ही वे दोनों दिल्ली भी आ जाते हैं। फिर दोनों में झगड़े

शुरू होते हैं जिनमें डा. आभा झुकती नहीं है, विद्रोह करती है और पति डा. मुकुल को तलाक दे देती है।

दूसरी तरफ डा. नेहा दिल्ली के एक निम्न-मध्यवर्गीय परिवार की बेटी है और एक अच्छी काबिल नेत्र-चिकित्सक है। डा. आर.पी. शरण अपने बेटे डा. अजय का विवाह डा. नेहा से करवा देते हैं। इसमें उनकी व्यावसायिक बुद्धि के दर्शन होते हैं। उन्हें जिन्दगीभर के लिए एक मुफत की डाक्टर मिल जाती है अपने "शरण आई सेण्टर" के लिए। डा. शरण पढ़े-लिखे जरूर है, पर आधुनिक किसी एंगल से नहीं है। उनकी सोच वही मध्यकालीन, सामंतीय, यथास्थितिवादी, पुरूषवर्चस्ववादी और पिछड़ी है। डा. नेहा प्रतिभावान है, काबिल है और डा. अजय से ज्यादा होशियार है अपने क्षेत्र में, पर डा. आर.पी. शरण (ससुर) उसे आगे बढ़ने का या पढ़ने का कोई मौका नहीं देते। बनिस्बत इसके अपने कम प्रतिभावान बेटे को स्नातकोत्तर पढ़ाई के लिए विदेश भेजने का भरसक प्रयास करते हैं पर उसमें सफल नहीं होते। डा. अजय के स्थान पर यदि वे डा. नेहा पर ध्यान देते तो शायद वे जरूर सफल हो जाते। पर बेटे के रहते बहू कैसे आगे निकल जाए? डा. नेहा के जीवन की त्रासदी को गहराने के लिए लेखिका ने एक विलोमी स्थिति का निर्माण किया है। दिल्ली में ही एक डा. बिन्दु हैं – डा. बिन्दु बत्रा। वह डा. जसवीरसिंह की पुत्रवधू है और उनके अस्पताल में वह अपने ससुर की ही बोस है। डा. बिन्दु को देखकर डा. नेहा को लगता है कि "काश ! मेरे भी ससुर छूट देने के पक्ष में होते। मै भी कुछ नया करने के विषय में सोच पाती।"[105]

डा. नेहा काबिल और योग्य होने के बावजूद परिवार में तीसरे स्थान पर है। पहले स्थान पर ससुर, दूसरे स्थान पर उनका पति अजय और उसके बाद वह। अस्पताल में डा. नेहा की उपेक्षा होती है, ससुर जान-बूझकर किसी मरीज

को हाथ नहीं लगाने देते कि कहीं बहू बेटे से ज्यादा निपुण न समझी जाए। यहाँ तक कि एक मरीज को गलत इंजेक्शन दिए जाने पर और उसकी स्थिति बिगड़ने पर बाहर से डाक्टर बुलाए जाते हैं पर डा. नेहा को नहीं पूछा जाता। यह इंजेक्शन डा. शरण के सुपुत्र डा. अजय ने दिया था। मरीज की उसके कारण मौत हो जाती है और तब बलि का बकरा बनाया जाता है डा. नेहा को। डा. अजय इमोशनल ब्लेकमेलिंग करते हुए डा. नेहा को कहते हैं कि उस मरीज की मृत्यु की सम्पूर्ण जवाबदेही वह अपने ऊपर ले लें। इसके कारण डा. नेहा का मानसिक संतुलन गड़बड़ा जाता है और वह बड़बड़ाने लगती है, तब नर्स डा. अजय की ओर भागती है। उपन्यास का अन्त नर्स के इन शब्दों के साथ होता है – "सर, डा. नेहा को कुछ हो गया है, डा. नेहा....शी इज सिक।"[106]

इस प्रकार डा. आभा और डा. नेहा के रूप में हमें दो नारी चरित्र मिलते हैं - एक दबंग और एक दबने वाला। एक ही परिणति विवाह-विच्छेद के रूप में होती है और दूसरी त्यागमूर्ति होते-होते पागल हो जाती है। उपन्यास में हमारी आधी-अधूरी आधुनिकता पर भी व्यंग्य किया गया है। डा. आभा के मम्मी पप्पा स्वयं को "मोडर्न" मानते हैं, पर दूसरी ओर उनकी चिन्ता यह है कि उनका लाड़ला (डा. आभा का छोटा भाई) कहीं विदेश जाकर किसी गोरी मेम से शादी न कर लें।[107] इस प्रकार शिक्षित होने के बावजूद, "माडर्न" होने का दंभ भरने के बावजूद हम अपने संस्कारों या कुसंस्कारों में वही दकियानूस व्यवहार करते हैं। धर्म, शिक्षा, व्यवहार, व्यवसाय, शादी-ब्याह सब जगह हम फक्त और फक्त सुविधावादी हैं और सिद्धान्तों और नियमों को अपनी सुविधानुसार मोड़ देते हैं।

डाक्टरी तक पढ़े हुए आदमी को हम अनपढ़ तो नहीं कह सकते । पर उनकी यह पढ़ाई उनको कितना संस्कारित करती है उसे हम डा. चोपड़ा के निम्नलिखित कथन में देख सकते हैं । डा. आभा जब उसे धमकी देती है कि वह उसके सारे काले-करतूतों के बारे में लिखेंगी, तब डा. चोपड़ा कहता है – "लिख, साली लिख । खूब लिख, लिखकर क्या कर लेगी?" डा. चोपड़ा ने शब्द ऐसे चबा चबाकर कहे जैसे वह आभा को ही चबा रहे हों । और फिर अपनी कमर के नीचे हाथ रखकर बोले – "उखाड़ ले मेरा यह ।[108] ऐसी भाषा किसी गुण्डें या टपोरी की तो हो सकती है, पर डा. चोपड़ा? मैत्रेयी यही तो कहना चाहती है कि कुछ नहीं बदला है ।

अन्त में निष्कर्षत : डा. अर्जुन चव्हाण साहब के शब्दों में कहना चाहूंगी – कि "विजन" की लेखिका ने अस्पताल के माहौल में ऐसा टेथस्कोप दिया है जो वर्तमानकालीन भारतीय जिन्दगी की धड़कन को सुनाता है । यह वह टेथस्कोप है जो हमारे यहाँ के छोटे-मोटे शहरी तथा महानगरीय समाज की धड़कन को नापता है । "विजन" की लेखिका ने नेत्र-चिकित्सा के जरिए उस "लेन्स" की स्थापना करना चाहती है जिससे हमें ऐसी दृष्टि मिले कि वर्तमान सामाजिक विद्रूपताओं को देख सकें, पहचान सकें ।"[109]

(8) कही ईसुरी फाग (2004) :

कहाँ से शुरू किया जाय? मैत्रेयीजी के "नारी-विमर्श" की अगली महत्वर्पूण कड़ी है प्रस्तुत उपन्यास – "कही ईसुरी फाग ।" इस उपन्यास से दूपरदू – रूबरू होते हुए, मेरे सामने मेरे मानस-गुरू प्रोफेशन, अपनी धुन, अपनी लगन, अपनी कविताई में मस्त रहनेवाले दबंग पढ़ाकू और जुझारू देसाई साहब का यह हश्र? लाचार, विवश और हारा हुआ आदमी । बिल्कुल

उपन्यास के नायक ईसुरी की तरह। जिन्दगीभर घर-गृहस्थी से निश्चिंत रहने वाले, यह कहने वाले कि "हैसियत नहीं है हमारी, उन पादशाहों की; पर हम जीते हैं जिन्दगी बादशाहों की।"[110] पर इस समय घर-गृहस्थी ने ही उनकी ऊर्जा को दबोच लिया है बिल्कुल ईसुरी की तरह ! उपन्यास के ईसुरी के सम्बन्ध में उपन्यास के अंतभाग में जो विवरण आया है वह ध्यानार्ह रहेगा। आबादी बेगम जब धीरे पंडा से ईसुरी फगवारे की जमा अमानत सौंपने की बात करती हैं तब फगवारे यह इच्छा जताते हैं कि वह रकम उसकी बेटी गुरन को भेज दी जाए, जबकि एक बार पहले जब बेगम ने उस अमानत की बात की थी तब ईसुरी ने हंसकर बड़े कोमल स्वर में कहा था – "ये रूपये हमारी प्यार-प्रीति को संवारने के काम आयेंगे। समय आयेगा तब हम खुद ही ले लेंगे। .....आज उस माधुर्य को किसने लूट लिया?"।[111] जहन में उर्दू के ख्यातनाम शायर जनाब हाली का एक शेर कुलबुला रहा है – "फिर औरोंकी तकते फिरोगे सखावत, बढ़ाओ ने हद से सखावत ज्यादा।"

धीरे पंडा ईसुरी में आए इस परिवर्तन के, हार के स्वर के संदर्भ में बेगम साहिबा के आगे कहते हैं –"वह खुद जानता है कि उसका अशान्त मन चमगादड़ की तरह फड़फड़ाता है जिसमें जस और जीतों का खोखला अभिमान भरा हुआ है। अभिमान जिसमें रजऊ का जीता हुआ अंश, उस पर अपनी प्रीति की शासनदारी और फागों का अमला....पर वही रजऊ जो कुछ कर गई, भइया जू नहीं कर पाए, मलाल कम नहीं है। बेगम साहिबा जिन्दगी का अकारथ होना, कम सदमें की बात नहीं होती।"[112]

रजऊ बुंदेलखण्ड़ के लोककवि ईसुरी की प्रेमिका है। ईसुरी अपनी इस प्रेमिका को सम्बोधित करके जो फाग सुनाता था उसकी मस्ती में सब सरोबार

हो जाते हैं। उस समय की न जाने कितनी स्त्रियां ईसुरी और उसके फाग की दीवानी थीं और उसकी "संबोधिता" होना चाहती थीं। पर अपने पति प्रताप की शहीदी के बाद रजऊ एक क्षण रूकती नहीं है और भाग कर देशपत दीवान की स्त्रियों की फौज में शामिल हो जाती है जो झांसी की रानी लक्ष्मीबाई के लिए सन् 1857 में लड़ रहे थे। रजऊ लक्ष्मीबाई के ठीक ढाई महीना पहले लड़ते-लड़ते शहीद हुई थीं"।[113] प्रेम की फनागिरी में रजऊ जो कर गुजरी वह ईसुरी नहीं कर पाए। रजऊ के प्रेम का उदात्तीकरण होता है और ईसुरी वहीं सिमटकर रह जाते हैं। यही कसक उन्हें सालती है। यह हर हारे हुए पुरूष की कसक है। क्या यह कसक डाक्टर साहब, डा. शर्मा (मैत्रेयीजी के पति) की कसक नहीं हो सकती?

उपन्यास का देशकाल या परिवेश सन् 1857 से सन् 2002 के गुजरात नरसंहार कांड तक विस्तृत है। उपन्यास के नायक नायिका ईसुरी और रजऊ या रज्जो उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के आसपास हैं। और उसके दूसरे समकालीन युग के नायक-नायिका ऋतु और माधव इस इक्कसवीं शताब्दी के हैं। उपन्यास को विश्वसनीय बनाने हेतु जो पद्धति अपनायी गई है वह पद्धति मध्यकाल में मानसकार तुलसीने अपनायी थी और आधुनिक काल में "बाणभट्ट की आत्मकथा के रचयिता आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनायी थी। जैनेन्द्र के "त्यागपत्र" में भी यह पद्धति हमें प्राप्त होती है।

उपन्यास के नायक-नायिका तो ईसुरी और रजऊ हैं, परंतु इनके अलावा भी कई पात्र हैं जैसे – आबादी बेगम, धीरे पांडे, देशपत दीवान, प्रताप, आदित्य, मुसाहिबजू (धौरा का सामंत) , रज्जू राजा (मुसाहिबजू की बेटी), चंपाकली (मुसाहिबजू की नौकरानी), गंगयिा बेडिनी, रामदास (रजऊ के जेठ), लछमन (रजऊ या रज्जो के भाई), पुजारी महाराज (रामदास के

सलाहकार), कुंझल शाह (देशपत दीवान के भतीजे), ऋतु, माधव, मामाजी (माधव के मामा), अनवरी बेगम, बेड़िनी करिश्मा, सरस्वती देवी, ओरछा के गाइड शांलिगराम कटारे, एन.सी.सी. के टीचर, ऋतु की मां आदि-आदि । उपर्युक्त सूची में कुंझल शाह तक के नाम उस पीढ़ी के हैं जो ईसुरी और रजऊ की पीढ़ी है और उसके बाद के चरित्र हमारे समकालीन युग के हैं ।

आबादी बेगम बधौरा की जमींदारनी हैं और लोककवि ईसुरी की संरक्षिका भी है । ईसुरी के फागों की कद्रदान यह बेगम सन् 1857 के स्वाधीनता-संग्राम में रानी लक्ष्मीबाई के साथ थी । अनवरी बेगम उनकी ही वंश-परंपरा में आती हैं । धीरे पांडे ईसुरी के अतरंग मित्र है और फाग-मंडली के सूत्रधार भी है । इस नाते वह आबादी बेगम को मिलते रहते है । देशपत दीवान स्वाधीनता संग्राम (सन् 1857) के एक वीर सेनानी है और उनके द्वारा निर्मित स्त्रियों की फौज में रजऊ और गंगिया शामिल हो जाती है और रानी की ओर से लड़ते हुए शहीद हो जाती है । प्रताप रजऊ का पति है और ईसुरी के कारण बदनाम पत्नी के कारण फौज में भर्ती हो जाता है, जहाँ उसकी मृत्यु हो जाती है । आदित्य भी एक सेनानी है । रज्जू राजा धौरा के सामंत मुसाहिबजू की बेटी है । मुसाहिबजू ईसुरी फगवारे को आमंत्रित करते हैं तब रज्जू भी ईसुरी के प्रेम में पड़ जाती है और वह भी ईसुरी के फागों में संबोधिता होना चाहती है । ध्यान रहे रज्जू राजा और रजऊ या रज्जो ये दोनों अलग-अलग हैं । मुसाहिबजू को जब रज्जू और ईसुरी के प्रेम के बारे में पता चलता है तब वे ईसुरी को कैद में डाल देते हैं और रज्जू राजा की संदेहास्पद स्थितियों में मौत हो जाती है । चंपाकली मुसाहिबजू की नौकरानी है । उसे भी ईसुरी के फोगो की संबोधिता होने की चाह है । इस तरह जैसे गोपियाँ कृष्ण की बांसुरी की दीवानी थी, ठीक उसी तरह उस समय की बहुत-सी बुंदेलखण्ड़ की स्त्रियां ईसुरी के फागों की दीवानी थी । इन सबमें रजऊ का स्थान राधा जैसा था, ऐसा कह

सकते है। ईसुरी के पीछे पागल स्त्रियों में गंगिया भी है जो पहले रंगरेजिन थी और ईसुरी के प्रेम में बेड़िनी हो जाती है। यही गंगिया बाद में रजऊ के साथ देशपत दीवान की टोली में शामिल हो जाती है। रामदास रजऊ का जेठ है और प्रताप के निधन के बाद रजऊ से शादी करना चाहता है। तब रजऊ अपनी सहायता के लिए भाई लछमन को बुलाती है पर लछमन भी रामदास के साथ शामिल हो जाता है। लोककथा का भाई तो अपनी बहन को राजा के शिकंजे से बचा लाता है पर यहाँ भाई उस राक्षस के साथ ही मिल जाता है।[114] तब रज्जो गंगिया के साथ भाग जाती है।

ऋतु, माधव, मामाजी, सरस्वतीदेवी, ओरछा के गाइड शालिगराम कटारे, एन.सी.सी. टीचर, ऋतु की मां, करिश्मा बेड़िनी आदि हमारे समकालीन पात्र हैं। ऋतु बुंदेलखंड़ के श्रृंगार के कवि ईसुरी पर पी.एच.डी. उपाधि हेतु शोधकार्य कर रही है और उसी सिलसिले में ईसुरी और रजऊ के सम्बन्धों की तलाश में वह बुंदेलखण्ड के कई गाँवो की खाक छान मारती है। माधव ऋतु का सहाध्यायी है। कालेज की प्रतियोगिता में माधव ईसुरी वाले फाग सुनाता है तो ऋतु उन फागों को सुनाती है जो रजऊ को संबोधित किए गए हैं। कालेज की प्रतियोगिता तो ऋतु जीत जाती है, पर अपना दिल हार जाती है। वह माधव को ईसुरी और स्वयं को रजऊ समझने लगती है। यह प्रेम वह रंग लाता है कि माधव भी अपना विषय बदलकर उसे शीर्षक देता है – "ईसुरी का बुंदेली को योगदान।"[115] अपनी शोध के सिलसिले में वे एन.सी.सी. टीचर, गाइड शालिगराम कटारे, अनवरी बेगम, करिश्मा बेड़िनी, सरस्वतीदेवी आदि से भी मिलते हैं और टुकड़ा टुकड़ा मिलकर ईसुरी-रजऊ की प्रेमगाथा, जो अंततः रजऊ की वीरांगना गाथा बन जाती है, निर्मित होती जाती है।

उपन्यास में आद्यन्त बुंदेलखंड़ के लोककवि ईसुरी के फागों की चर्चा है । ईसुरी रीतिकाल के कवि हैं परंतु हिन्दी साहित्य के इतिहास की रीतिकालीन परंपरा में या सूची में उनका नाम शामिल नहीं है । जो बुंदेलखंड़ के गाँवो में, उसकें स्त्री-पुरूषो के कंठ में आबाद है, उनके गले का हार है, उसे शास्त्रीय परंपरा ने नकार दिया है । बल्कि कई लोग, कई विद्धान तो उसे "लंपट कवि" कहते हैं ।[116] यहाँ यह बहस "लोक" वर्सिस "शास्त्र" हो गई है । और बाह्यतः "शास्त्र" जीतता है क्योंकि ईसुरी की भांति ऋतु का शोध-प्रबंध भी अमान्य हो जाता है । पर ऋतु-माधव की कथा, ईसुरी-रजऊ की कथा तो अमर हो जाती है । "शास्त्र" की हार और "लोक" की जीत । उपन्यास की भी भूरि-भूरि प्रशंसा अधिकांश विद्धानों ने की है, एक-दो को छोड़कर । जो "लोक" को नकारते हैं, जो केवल शास्त्र की सीमाओं में ही बंधे रहना चाहते हैं, जो कला के शास्त्रीय मूल्यों को सामाजिक सरोकारों पर तरजीह देते हैं ऐसे लोग शायद उपन्यास को "कोरा बकवास" भी कह सकते हैं ।

डा. रवीन्द्र त्रिपाठी ने यथार्थ ही कहा है – "ईसुरी यौवन का कवि है । ईसुरी और रजऊ युवा प्रेम के आद्य-बिम्ब बन जाते हैं, कम से कम बुंदेलखंड़ में । लेखिका ने तुलसीराम और मादुरी, ऋतु-माधव, गाइड सालिगराम कटारे-सावित्री जैसे युगल-चरित्रों के माध्यम से यह दिखाया है कि ईसुरी-रजऊ की कहानी आज भी जीवित है । उस कहानी के रूप बदल गए हैं, चरित्र बदल गए हैं, समय और परिस्थितियां बदल गई हैं पर उसका मूल रूप अभी भी मौजूद है ।"[117] क्योंकि जब तलक यह दुनिया रहेगी, प्यार और मुहब्बत करने वाले रहेंगे, क्योंकि "कोई हद ही नहीं यारब, मुहब्बत के फसाने की सुनाता जा रहा है जो जिसको जितना याद आता है ।" और – "हर दौर के शायर की कोई

अपनी सनम होती है; और दूरियां बढ़े जब सनम से तो गज़ल होती है ।" तो प्यार की यह गज़ल भी हर दौर के प्रेमी –ईसुरी और रजऊ दोहरायेंगे ।

"इस उपन्यास का नायक ईसुरी है, मगर कहानी रजऊ की है ।"[118] और यह कहांनी जितनी रजऊ की है उतनी ही ऋतु की भी है । रजऊ के साथ सन् 1857 का स्वाधीनता-संग्राम है, तो ऋतु के साथ सन् 2002 का गुजरात नर-संहार (जीनोसाइड) है । प्रथम रजऊ को वीरांगना बना देता है, तो द्वितीय के कारण बदनाम होकर गुमनामी की दुनिया में चला जाता है । प्रथम के साथ "गौरवपूर्ण इतिहास" है, तो दूसरे के साथ एक ऐसी घटना जिससे लोकतंत्र शर्मसार हो सकता है । उपन्यास में यह अकारण नहीं है कि करिश्मा बेड़िनी ऋतु से कहती है – "ऋतु तुम तो लिखोगी, तुम्हें ये सब बातें लिखनी भी चाहिए कि जो गंगिया, रजऊ, ईसुरी महाराज देशपत जैसे लोग भुगत रहे थे, लक्ष्मीबाई झेल रही थी, वे उन अंग्रेजों के जुल्म थे, जो हमने नहीं बुलाए थे, पर अब, अब जो मारकाट, जलाना-भूनाना, उनके हाथों हो रहा है, जिनको हमने वोट देकर चुना है । यह कलंक कथा, जो अंग्रेजों की नहीं, हमारी है, ऋतु ! तुम्हारी खोज के किस अध्याय में आयेगी? आना चाहिए, भले इसमें गंगिया, झलकारी, काना, मुंदरा, तात्या, मारोपंत जैसे वीर-वीरांगनाओं के नाम न हों । आईना तो होगा, जो डेढ़ सौ साल बाद के आजाद देश के चेहरे की झलकी दिखा देगा । मैं शुरूआत में भी तुमसे यही कहना चाहती थी, मगर अपनी पांच पीढ़ी पहले की गंगिया बेडिन के मोह में ऐसी उलझी जैसे अपने महान इतिहास का छोर हाथ आ गया हो ।"[119]

लगे हाथ गोधरा और अहमदाबादकांड विषयक माधव की यह टिप्पणी भी देख लीजिए -- " जो नवयुवक दरिन्दों के रूप में हत्याएँ कर रहे थे, आग

लगा रहे थे, बलात्कार कर रहे थे, पैसे की एवज में आए थे। बिना पैसे पाए न कोई कार सेवक था, न कोई धर्मान्धों का दुश्मन, धर्म पैसे का जरिया है और राजनीति पैसे का खजाना। गोधरा और अहमदाबाद कांड भाड़े का सौदा था। ज्यादा से ज्यादा भाड़ा। मेरी मजबूरी समझना ऋतु। मै लौटकर आऊंगा। .....देखो मिले बिना कितने दिन हो गए हैं। मैं जानता हूं कि तुम मुझे बिदा करने आओगी।[120] (माधव को मामा प्लास्टिक का काम सीखने के लिए चायना भेज रहे हैं, शायद गुजरात दंगों में वह जो जान गया था, उन सब चीजों से दूर रखने के लिए।)

किसीके मन में सवाल उठ सकता है, या किसीको सवाल के लिए उकसाया भी जा सकता है कि इस प्रेमकहानी में राजनीति कहां से आ गयी? तो उसका उत्तर यह है कि संसार में कौन-सा ऐसा विषय है जो साहित्य का अंग नहीं बन सकता। जो जागरूक और समाजाभिमुखी सोच रखने वाले हों, जो साहित्य समाज के लिए या जीवन जीने के लिए वाले सिद्धान्त में मानने वाले होंगे उनमें यह सब तो आएगा और उसके लिए उनकी सराहना होनी चाहिए न कि गरियाना चाहिए। "इदन्नमम" से शुरू हुई मैत्रेयी की उपन्यास यात्रा में समसामयिक घटनाओं का संयोजन हुआ है और होना भी चाहिए, उसमें बेवजह कुछ भी नहीं है। प्रेमचंद के उपन्यासों और कहानियों के साथ-साथ तत्कालीन इतिहास को यदि खंगाला जाए तो उनमें तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक आंदोलनों की चर्चा मिलेगी ही।

डा. जितेन्द्र श्रीवास्तव इस उपन्यास की समीक्षा करते हुए लिखते हैं--- "निखालिस प्रेमकहानी शायद वह बात नहीं पैदा कर पाती जो ये प्रसंग पैदा करते हैं। सोचिए, अनवरी बेगम की पूर्वजों ने आजादी का संग्राम लड़ा लेकिन आज़ाद देश में अनवरी इतना डरी रहती है कि गुजरात के गोधरा और

अहमदाबाद की बात भूल से भी जुबान पर नहीं लाना चाहती; बाबरी मस्जिद के बारे में बात चलाने पर बात बदल देती है ।[121] क्या ऐसा होना चाहिए? नहीं होना चाहिए लेकिन हो रहा है, अपनी शर्तो पर जीने की लालसा रखने वाली ऋतु को माधव के संपन्न मामा गुण्डे भेजकर डराते हैं – उसकी माँ को भी । वे गुण्डे ऋतु को उस निगाह से देखते हैं कि लगता है जैसे वे कपड़े उतार रहे हों । याद रखने की बात है कि सरस्वती देवी को भी गुण्डे उनका अपना काम नहीं कर देते । "यह हमारा आज़ाद भारत है, लेकिन इस आज़ाद भारत में कुछ ऐसे लोग भी हैं जो रज्जो और गंगिया जैसे लोगों को उचित सन्मान भी देते हैं । एन.सी.सी. के जिस अध्याय का जिक्र उपन्यास में आया है, वह ऐसा ही है । हमारे समाज में ऐसे ही पुरूषों की जरूरत है ।"[122]

मुसाहीबूज के सैनिकों में दलित जाति के भी कुछ लोग हैं । उनमें एक है विरतिया । मुसाहिबजू की बेटी ईसुरी को मिलना चाहती है जो मुसाहिबजू की कैद में है । विरतिया उसे ईसुरी तक ले जाता है और बदले में रज्जू राजा को चूमा लेता है और मौका देखकर उसकी छाती को भी दबाता है । रूकमणि जब उसे टोकती है तब विरतिया जो कहता है वह भी उपन्यास के आयाम को हमारे सामने रखता है – "भूल गई कि मुसाहिबूज हमारी बहुओं को पहली रात ही अपने नीचे बिछकाकर मानते हैं ।"[123] डॉ. जितेन्द्र श्रीवास्तव ने इस संदर्भ में अपनी सार्थक टिप्पणी दी है – "उपन्यास में ऐसे छोटे-छोटे प्रसंग उपन्यास को बड़ा बनाते है, व्यापकता देते हैं । यह सस्ती लोकप्रियता के लिए प्रयुक्त हथकंडा नहीं है ।"[124]

ऊपर विरतिया ने जो बात कही है उस पर से रमणिका गुप्ता की कहानी "बहूजुठाई" की स्मृति जहन में कौंधने लगती है जिसमें एक ऐसी कुप्रथा की

बात कही गई है जहाँ दलित परिवारों की नववधू की डोली ससुराल के द्वार पर नही गाँव के ठाकुर की हवेली पर रूकती है।[125]

इस प्रकार यह उपन्यास प्रकटतः ईसुरी और रजऊ की प्रेमकथा है, परंतु कथा तो एक बहाना है, लेखिका की आंखे चारों तरफ है। अपने समकालीन समय और उसके खतरों से वह पूरी तरह से चौकन्नी है। भारत का पढ़ा – लिखा तथा कथितसाक्षर, सुशिक्षित बुद्धिजीवी वर्ग, उसका अनपढ़ो सा व्यवहार, विश्वबाजार के मुनाफेखोर दलाल, हर बात का यहाँ तक कि कला और लोककलाओं का भी व्यावसायीकरण, लोकतंत्र के लोकघाती पहरेबाज, लोकतंत्र के नाम पर फासीवादी प्रवृत्तियों का बढ़ता जोर, पुरूषवादी सामंतवादी विचारधारा का पुनः पुनः जीवित हो उठना, नव जागरण से आयी चेतना पर पानी फिरते जाना, बाबरी मस्जिद कांड के उपरान्त गंगा-जमुनी संस्कृति का विलुप्त होते जाना, गुजरात के अग्निकांड और नरसंहार की विद्रुपताएँ कुछ भी बचता नहीं है मैत्रेयीजी की जागरूक आंखों से और यही अपेक्षा रहती है या रहनी चाहिए एक बड़े लेखक या लेखिका से।

मैत्रेयीजी के उपन्यासों का शिल्प सीधा-सादा नहीं होता। कथा "ए टु झेड़" कहीं भी फलतः पाठक को बहुत सचेत और सावधान रहना पड़ता हैं। प्रस्तुत उपन्यास का शिल्प तो और भी जटिल है। कथा इकहरी नहीं, दूहरी भी नहीं, तिहरी है। एक तरफ वह ईसुरी और रजऊ की प्रेमकथा है, दूसरी तरफ वह ऋतु-माधव की कथा है, तीसरी तरफ वह उन दोनों की रिसर्च-कथा है। धीरे पांडे और ईसुरी महाराज भी दो-दो हैं। एक रीतिकालीन या सन् 1857 के समय के और दूसरे सरस्वतीदेवी की मंडली में इन दोनों का पार्ट करने वाले। यों कथा के कई-कई स्तर है।

लेखकीय वक्तव्य में कहा गया है : "उसकी (ईसुरी की) अधिकांश फागें एक् पुरूष द्वारा स्त्री को दिए शारीरिक आमंत्रणों का उत्सवीकरण है ।"[126] उपन्यास के समीक्षा करते हुए यदि उन फागों की बात न हुई तो शायद बात आधी ही रहेगी । यथा –

"बैरी हो गए पुरा भरे के
रजऊ से मेर करें सें
लगी लगन जा छूटत नइयां कोनऊ जतन करे से
वे जै हें, हम जान न दे हें, अपने नजर तरे से

"ईसुर" कात कबै दिन आहै, हम जेवें वे परसें ।"[127] (रजऊ से प्रेम किया तो मुहल्ले भर के लोग बैरी हो गये । ऐसी लगन लगी कि कोई भी यत्न करे नहीं छूटती । वे जाना चाहते हैं और हम उन्हें अपनी नजर तले से दूर नहीं जाने देना चाहते । ईसुरी कहते हैं कि वह दिन कब आयेगा, जब वे परसेंगे और हम जीमेंगे ।)

और ---

"बीते जात मायके मइयां
ज्वानी के दिन गुइयां
गादर गाल काटवे लायक, चूमा लाइक मुइयां
छाती जुबन मसक्वे लायक, गहबे लायक बइयां
कहे ईसुरी जौन जौन गुन होत तियन में, एकऊ बाकी नइया[128]

अर्थ स्पष्ट है, अर्थाने की आवश्यकता नहीं है । उपन्यास में ऐसी तो कई फागें है । उद्दाम घनघोर श्रृंगार का काव्य, लेकिन अंत उसका विप्रलंभ में ही हुआ है ।

(9) त्रिया-हठ (2005)

मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों में मंदा (इदन्नमम), सारंग (चाक), शीलो (झूला नट), अल्मा (अल्मा कबूतरी) आदि नायिकाएं जूझारू, संघर्षशील, एक निश्चय के तहत स्वयं को ढालने वाली बड़ी मजबूत और मुकम्मल नारियाँ है। ये रोने वाली कमजोर नायिकाएँ नहीं हैं। कह सकते हैं कि मैत्रेयीजी की नायिकाएँ भी उनके ही साथ मजबूत और परिपक्व हुई हैं। शुरू में डरी हुई, दबी हुई, भीरू; परतुं बाद में पकती और परिपक्व होती गई हैं। वह स्वयं अनुभव करती हैं कि कथा का क्षेत्र ठोस कठोर यथार्थ का क्षेत्र है, यहाँ कोरी भावुकता से काम नहीं चलता। अतः उनके प्रयोग - काल की उनकी कुछ रचनाओं में ये कमजोरियाँ थी। कुछ आलोचकों को उनमें ही सहजता दिखती है। पर कलागत निर्ममता के पक्षकार उसे कमजोरी समझते हैं, और मैत्रेयी जैसे-जैसे इन बातों को समझती जाती हैं, उनको लगता है कि उनके प्रयोग-काल की कुछ रचनाओं का पुनर्लेखन आवश्यक है। अतः नयी जमीन तोड़ने के साथ-साथ अपने ही लेखन से असंतोष के कारण उनका पुनर्नवित रूप वह रचती गई है। "यह त्रिया-हठ ही है कि मैत्रेयी अपने लिखे को बार-बार उकेरती है। कुछ खोजती हैं नया और उसके लिए पुराने का ध्वंस कर एक नया सच गढ़ती हैं, अपनी ही राख से पुनः पुनः जी उठने वाले "फीनीक्स" (अगनपाखी की तरह) लेखकीय अहं, अपने किए या रचे के महान और अद्‌भुत होने के मोह को तोड़ती हुई। सच्चे लेखक के भीतर की बैचेनी का ताप उनसे यह सब करवाता है बार-बार। संतुष्ट होना नष्ट होना है, विकास की अवधारणा को भी विनष्ट करना है। मैत्रेयी यह सच अच्छी तरह जानती हैं।"[129] और इसी उपक्रम में उनके दो उपन्यास आए हैं – "अगनपाखी" (स्मृतिदंश) और "त्रिया-हठ" (बेतवा बहती रही)।

इस तरह "त्रिया-हठ" उपन्यास "बेतवा बहती रही" का पुनर्नवित रूप है। पात्र और देशकाल वही है, परंतु पात्रों के चरित्र-चित्रण में अंतर आ गया है।

उर्वशी पहले गूंगी गौ-सी थी, परंतु इस उपन्यास की उर्वशी भी "अगनपाखी" की भुवन की भांति "बाघिन" – सी हो गई है, लड़ाकू, हठी और जूझारू। इस प्रकार यहाँ बारह साल के बाद लेखिका ने विपन्न, लाचार और भावप्रवण उर्वशी के संघर्षपूर्ण जीवन की गाथा का आलेखन किया है। स्त्री-शक्ति की बात करने वाले, पर मन-ही-मन स्त्री को कमजोर, मजबूर, विवश देखने के इच्छुक लोगों को शायद उर्वशी का यह परिवर्तित रूप पसंद न आये। लेकिन नारी-सशक्तिकरण से प्रफुल्लित और उल्लसित होने वालों को "त्रियाहठ" की उर्वशी जरूर पसंद आयेगी। मीरा का व्यवहार पहले उर्वशी के प्रति सहानुभूति रखने वाला था, परंतु यहाँ वह उसके विपरीत छोर पर है। उर्वशी का दूसरा पति बरजोरसिंह स्वार्थी, क्रूर और लपंट था; जबकि प्रस्तुत उपन्यास का बरजोरसिंह पश्चाताप की आग में तपा हुआ और उर्वशी के प्रति संवेदनशील है, तभी तो उपन्यास में उर्वशी के अन्त समय पर पंछी के उड़ जाने की मुद्रा में उंगलिया नचाते हुए व्यथित स्वर में बुदबुदाते हैं – "तुम ने तोड़ डाली सलाखें / हम ललचाते रहें तुम्हें / इनके उनके अपने, दोनों के लिए।"[130]

"बेतवा बहती रही" में उर्वशी-सर्वदमन का पुत्र देवेश अबोध बालक था, जबकि "त्रियाहठ" का देवेश एक परिपक्व, विचारवान एवं तर्कशीलता को प्राधान्य देनेवाला युवक है। वह अपनी माँ की मौत का सच जानना चाहता है। उसे पक्का विश्वास है कि उसकी माँ बदचलन हो ही नहीं सकती, पर बदचलनी- बदकार औरत का तहोमत लगाकर कुछ न्यस्त हित वाले लोगों ने उसे मरवा डाला है।[131] देवेश की मित्र स्मिता कृष्णा सोबती के उपन्यासों पर शोध कर रही है और वह भी उर्वशी की सच्चाई को जानना चाहती है पर उसका अभिगम "औरत के भीतर की औरत को" विश्लेषित करता है। स्मिता जानती है कि "कोई भी दर्द तब तक साफ नहीं सुना जा सकता जब तक

उसका भूगोल न रचा जाए, अपने ही रचे भूगोल पर उतारना होगा उर्वशी को, न कि औरों के इतिहास में देखना।"[132] स्मिता का चरित्र नया है। देवेश की खोज में यह बात मुख्य है कि वह अपनी मां के बारे में छानबीन कर रहा है और स्मिता की खोज में औरत होने का अहसास और औरत की आकांक्षाएं और कमजोरियों का भी ध्यान रखा गया है।

"त्रियाहठ" उर्वशी के संघर्ष की कथा तो है ही पर साथ ही उसमें दहेज-प्रथा, स्त्री-शिक्षा, पंचायत-चुनाव में महिला आरक्षण का मुद्दा, स्त्रियों की अपने पति की जमीन में हिस्सेदारी, बेरोजगारी, डाकू समस्या, ग्रामीण व्यवस्था पर पुरूषों की प्रेतछाया जैसे कई मुद्दों को उकेरा गया है। जहाँ तक शीर्षक का सम्बन्ध है राजहठ, बाल हठ और योगीहठ की भांति "त्रियाहठ" का उल्लेख भी हमारे यहाँ मिलता है। मैत्रेयीजी ने इसे स्त्री की कृत-संकल्पता के संदर्भ में लिया है कि नारी एक हद तक बर्दाश्त करती है, पर जब उसकी वह हद समाप्त हो जाती है तब उसका शक्ति-रूप सामने आता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने बाणभट्ट की आत्मकथा" में कहीं कहा है – "परम् शिव के एक साथ दो तत्व एक साथ प्रकट हुए थे – "शिव" और "शक्ति"। "शिव" विधिरूप है। शक्ति निषेधा रूप है। इन्हीं दो तत्वों के प्रस्पंद-निस्पन्द से यह संसार आभासित हो रहा है। पिण्ड में शिव का प्राधान्य ही "पुरूष" है और शक्ति का प्राधान्य ही "नारी" है।[133] प्रस्तुत उपन्यास की उर्वशी वही "शक्ति-स्वरूपा" नारी है। जो अपने हक की जमीन के लिए और अपने बेटे देवेश के हक के लिए गाँव की पुरूष-सत्ता के खिलाफ खड़ी होती है और जब भी कोई स्त्री अपने हक की लड़ाई के लिए कमर कसती है, उसके साथ ही उसके आगे लगने वाले तमाम विशेषण अपना विलोमी-स्वरूप धारण कर लेते हैं, अर्थात् रंडी, कुल्टा, बेहया, डाकिन, चुडैल आदि-आदि। तभी तो मीरा की दादी

उर्वशी को गरियाते हुए कहती है : "खसम खा लिया, इसका पूत मर जाए। दोनों घरों के द्वार बंद हो गए तो अब हमारा घर मिला है डायन को। हमारे नाती-बेटों के पीछे पड़ गई है चुडैल। भगवान ने रांड करी थी, पर वह सांड हुई जा रही है।"[134]

तो दूसरी ओर उर्वशी के मन की व्यथा, उसके दैहिक ताप की बात को भी नजरअन्दाज नहीं किया गया है – "जवानी बुढ़ापा तो नहीं हो जाती विधवा होकर ? जवानी में बूढ़ा बनकर कोई कितनी देर रह सकता है ? एकदम चुप, आंखे-कान-जुबान पर बंधन डालकर। भूल में ही सही, देह कभी तो हिल-डुल ही जाएगी।"[135]

जिस प्रकार देवेश यह पता लगाने की कोशिश कर रहा है कि उसकी मां की हत्या कैसे हुई, वैसे ही उपन्यास में उर्वशी का भी एक मकसद है। वह यह जानना चाहती है कि उसके आदमी (सर्वदमन) का खात्मा कैसे हुआ और उसके लिए ही वह जिसे फूफा कहती है ऐसे बरजोरसिंह की सहायता मांगती है – "मैं तुमसे कोई वचन नहीं मांग रही फूफा, न कोई धन-दौलत चाहिए। बस, मेरे साथ खड़े हो जाओ। मुझे तुम्हारी जरूरत है।"[136] गाँव में वह अपने पति की हत्या का रहस्य जानने के लिए आयी थी। वह जानती है कि गाँव में किसी बात का पता एक-दो-दिन में नहीं चल सकता। उसमें तो सालोंसाल लग जाते हैं।

इस प्रकार "त्रियाहठ" की "उर्वशी" बेतवा बहती रही" की उर्वशी नहीं है। और उर्वशी के साथ अन्य उससे जुड़े चरित्रों का भी कायाकल्प हो गया है। एक स्थान पर उर्वशी मीरा को कहती है : "औरत और जमीन दोनों में से किसी एक को चुनना हो तो पुरूष बेशक जमीन को चुनेगा। औरत का क्या है ? मौत के घाट उतार देंगे। उसकी जगह दूसरी ले आयेंगे। जमीन स्थायी है, औरत

ज्यादा से ज्यादा एक पीढ़ी । जमीन फसलों पर फसल देती जाती है, औरत अपनी जिन्दगी में दो-चार बच्चे और सेवा .."[137] और अपने बेटे देवेश को अपने बाप की जमीन का हक दिलाने के लिए ही वह बरजोरसिंह के साथ रह लेती है और उस जमीन के कारण ही उसे मौत के घाट उतार दिया जाता है, पर लांछित और बदनाम करके ।

सुश्री कविताजी ने उपन्यास की समीक्षा करते हुए यथार्थ ही कहा है : "त्रियाहठ" को पढ़े जाने के लिए बेतवा का पढ़ा जाना या होना जरूरी है । और कुछ नहीं तो कथा-रस के लिए । सच के ऊपरी परती को घटाकर उसे परखने के लिए । "बेतवा" का बहाव लिए जाता है पाठकों को अपनी सहजता में ; "त्रियाहठ" किनारे के कंकरीले पत्थरों पर ला पटकती है । "बेतवा" में सहज जीवन का भोलापन है, "त्रियाहठ" में कठोर सत्य । "त्रियाहठ" रोकता है, उलझाता है .. अंततः किसी बंधे-बंधाए निर्णय पर नहीं छोड़ता ।"[138] "बेतवा में जो सत्य या भावुकता है वह मैत्रेयीजी की सन् 1990-92 के समय की है और "त्रियाहठ" का सच सन् 2005 की मैत्रेयीजी का है, निर्मम, कठोर और परिपक्व ।

(10) गुनाह – बेगुनाह (2011) :

"गुनाह-बेगुनाह" मैत्रेयीजी के अभी तक (सन् 2012 तक के) उपन्यासों मे अंतिम हैं । पर जिस तरह मैत्रेयीजी नये-नये क्षितिजों और विषयों को उद्‌घाटित कर रही हैं, आगे भी उनकी रचनात्मकता ऊर्जस्विता के साथ प्रकट होती रहेगी, ऐसी आशा कर सकते हैं । उपन्यास का आवरण चित्र "राजकमल स्टूडियो" द्वारा बनाया गया है जो कई-कई अर्थो में सूचक है । सफेद पृष्ठ पर लाल रंग के धब्बे -- खून के भी है और पान की पिचकारी के भी । अगर खून के धब्बे हैं तो न्याय, विधि, कानून के तहत कानून के रखवालों द्वारा निर्दोष

और बेगुनाह लोगों के खून के धब्बे है और अगर पान की पिचकारी के हैं तो हमारी मौजूदा व्यवस्था पर मानो हिकारत और नफरत से किसीने थूक दिया है।

प्रकाशकीय वक्तव्य में कहा गया है – "भारतीय समाज में ताकत का सबसे नजदीकी, सबसे देशी और सबसे नृशंस चेहरा है – पुलिस। कोई हिन्दुस्तानी जब कानून कहता है तब भी और सरकार कहता है तब भी, उसकी आंखों के सामने कुछ खाकी-सा ही रहता है। इसके बावजूद थाने की दीवारों के पीछे क्या होता है हममें से ज्यादातर नहीं जानते। यह उपन्यास हमें इसी दीवार के उस तरफ ले जाता है और उस रहस्यमय दुनिया के कुछ दहशतनाक दृश्य दिखाता है और सो भी एक महिला पुलिसकर्मी की नजरों से।"[139]

इसीमें आगे कहा गया है – इला जो अपने स्त्री वजूद को अर्थ देने और समाज के लिए कुछ कर गुजरने के हौसले को लेकर खाकी वर्दी पहनती है, वहाँ जाकर देखती है कि वह चालाक, कुटिल लेकिन डरपोक मर्दो की दुनिया से निकलकर कुछ ऐसे मर्दों की दुनिया में आ गई है जो और भी ज्यादा क्रूर, हिंसालोलुप और स्त्रीभक्षक हैं। ऐसे मर्द जिनके पास वर्दी और बेल्ट की ताकत भी है, अपनी अधपढ़ मर्दाना कुंठाओं को अंजाम देने की निरंकुश निर्लजता भी। ...अपनी बेलाग और बेचैन कहन में यह उपन्यास हमें बताता है कि मनुष्यता के खिलाफ़ सबसे बीभत्स दृश्य कहीं दूर युद्धों के मोर्चों और परमाणु हमलों में नहीं, यहीं हमारे घरों से कुछ ही दूर सड़क के उस पार हमारे थानों में अंजाम दिए जाते हैं।"[140]

उपन्यास का शीर्षक "गुनाह-बेगुनाह" भी बहुत कुछ कह जाता है। उसके कई अर्थ-पाठ हो सकते हैं, मसलन--- 1. इसमें ऐसे गुनाह है, जो वस्तुतः गुनाह हैं ही नहीं, अर्थात् बेगुनाह लोगों को गुनहगार बताया गया है,। 2. ये गुनाह उन लोगों ने किए हैं जो बेगुनाह हो सकते थे पर ऐसी मानवीय

स्थितियों का निर्माण हुआ कि अगर ये गुनाह न करते तो मनुष्य कहलाने के काबिल ही न रहते , 3. गुनाह और बेगुनाह के बीच एक छोटी-सी विभाजक रेखा है जो यह घोषित करती है कि इसमें गुनाह क्या है और बेगुनाह क्या है यह स्पष्ट ही नहीं हो रहा है, 4. जिन औरतों को गुनहगार बनाकर पकड़ लाए हैं उन्होंने गुनाह किया है, तो अब पुलिसवाले उनके साथ जो कर रहे हैं क्या वह गुनाह नहीं हैं ? ऐसे कई प्रश्न उठते हैं जब हम इस उपन्यास से गुजरते हैं ।

और वह प्रश्न भी उठता है जो उपन्यास की नायिका इला के मन में उठता है जो एक पुलिस कर्मचारी है । तथा – "ड्यूटी । इला को ताज्जुब होता है, जब लोग उसे उसकी ड्यूटी समझाते है । बूट-वर्दी पहनकर थाने पर जाना, अफसरों को सैल्यूट बजाना, गेट पर चौकीदार की तरह खड़ी होना ता किसी महिला मुजरिम की तलाशी लेना या किसी औरत को किसी गाँव-कस्बे या शहर से गिरफ्तार करके थाने तक लाना । सचमुच ही ड्यूटी है उसकी ? इसीको ड्यूटी कहते हैं ? अपना रूतबा गांठकर रहने वाले लोगों ने उस सारी धरती पर कब्जा कर लिया है जो लड़कियों के हक में थी । उन्हें बेदखल करके चाहे जिधर हांक दिया और अपनी सेवा तथा सेक्स के लिए औरतों को काम में लाए । इसी परंपरा के रीति-रिवाजों पर आज भी ढोल-नगाड़े बजाए जाते हैं । दूल्हों की सवारियाँ निकलती हैं और कुछ दिन बाद हत्या और आत्महत्या से गुजरती औरतों की चिताएं सजती हैं । लाशें जल-समाधि लेती हैं । इला जैसी लड़कियां, समीना और प्रिया जैसी सिपाही मौन हैं । ड्यूटी कर रही हैं, महिला पुलिस कहलाती हैं । इला को हंसी आ गई, खोखली-सी हंसी, उसके एकान्त से आ टकराई ।"[141]

प्रस्तुत उपन्यास से पूर्व लेखिका की स्त्री-विमर्श को लेकर लिखी गई पुस्तक "फाइटर की डायरी" को भी देख जाना चाहिए । यह उपन्यास शायद

उसका ही विस्तार है । "फाइटर की डायरी में" संवेदी पुलिस-संवेदी समाज" का नारा देनेवाली हरियाणा पुलिस अकादमी में पुलिस प्रशिक्षण प्राप्त कर रही संगीता, शबनम, ज्योति, पूजा, ममता, सुनीता, कुलबीर आदि महिला पुलिसकर्मियों के संवाद हैं जिनको मैत्रेयी पुष्पा ने जस का तस रख दिया है । श्री.राकेश बिहारी ने प्रस्तुत पुस्तक के संदर्भ में लिखा है –"स्त्री-जीवन के कई-कई जाने-अनजाने प्रसंगों को खोलती इस संवाद - श्रृंखला के ईट-गारे से एक उपन्यास लिखने की लेखकीय महत्वाकांक्षा को छोड़कर बंद कमरे में हुए इन साक्षात्कारों को बिना किसी आवरण या आडंबर के सीधे-सीधे पाठकों की दहलीज तक का पहुंचाना ही इस पुस्तक के शिल्प और प्रस्तुति दोनों की विशेषता है ।"[142] (प्रस्तुत उपन्यास "गुनाह-बेगुनाह" द्वारा वही महत्वाकांक्षा कदाचित साकार हुई है ।

"फाइटर की डायरी" में मैत्रेयीजी ने लिखा है –"लड़की को ताकत चाहिए, जिसे उससे लड़की / औरत बनाकर छीन लिया जाता है । माना की औरत मर्द के मुकाबले संवेदनशील होती है, उसका स्वभाव हिंसक नहीं होता, मगर अपनी संवेदनशीलता को बचाने के लिए भी ताकत चाहिए कि सिद्ध कर सके, उसकी संवेदनशीलता कमजोरी नहीं होती । हमदर्दी को कमजोरी मत कहो । यदि कहते या मानते ही रहोगें तो लड़कियों को वही वर्दी, वही राइफल, वही बैल्ट चाहिए जो कमजोरों, नाइंसाफी के मारों के लिए लड़े ।"[143]

और यही वह केन्द्रीय भाव है जो मैत्रेयीजी के इस उपन्यास में ही नहीं उनके अन्य उपन्यासों और साहित्य में प्रतिबिम्बित होता रहता है । "वे न कहीं पुरूष के विरोध में स्त्री को खड़ा करने, उनके सहज स्वाभाविक सम्बन्धों में विष घोलने या परिवार के ढांचे को तोड़ने की बात करती हैं और न स्त्री को यौन-मुक्ति की छूट या विवाहेतर सम्बन्ध बनाने को प्रोत्साहन देती है । यौन-

मुक्ति यदि उन्हें स्वीकार्य भी है तो इससे उनका आशय यौन स्वतंत्रता का है न कि स्वेच्छाचारिता या यौन अराजकता का। उनकी तो बस इतनी-सी चाह है कि स्त्रियों को पुरूष की बराबरी का सम्मान मिले। स्त्री होने के नाते उन्हें परिवार या समाज में हेय न समझा जाय और न उन्हें प्रचलित परंपरागत दमन या शोषण का शिकार बनाया जाय।"[144]

अपने और उपन्यासों में जहाँ मैत्रेयीजी ने बुंदेलखण्ड़ के परिवेश को उठाया है, वहाँ प्रस्तुत उपन्यास में उन्होंने हरियाणा के परिवेश को लिया है। हरियाणा इस समय अपनी मर्दवादी सोच, स्त्रियों के दमन और शोषण, स्त्री-भृण हत्या, लड़कियों पर होनेवाले बलात्कार, दहेज-हत्याएं, खाप पंचायतों के नारी-विरोधी, मानवता-विरोधी, स्त्री-विरोधी फतवों के कारण कुख्यात है। स्त्री-पुरूष बराबरी में मानने वाली लेखिका इन समस्याओं पर न लिखे और इस परिवेश को न उठावें तो ही आश्चर्य है। मैत्रेयी नारीसशक्ति करण की मुहिम में भी मानती है।

पितृ-सत्ता ने हमेशा से लड़कियों पर अपने अधिकारों और निर्णयों को थोपा है। भाई तो पिता से भी दो कदम आगे निकल जाते हैं। मामला चाहे पढ़ाई-लिखाई का हो, चाहे शादी-ब्याह का, या चाहे पहनावे-ओढ़ावे का, वे अपने निर्णय अपनी बहनों पर थोपते ही जाते है और इस मामले में पिता से इक्कीस ही ठहरते हैं। शिक्षा और व्यवहार का अंतर यहाँ सामने आता है। कई बार लगता है कि तकनीकी दृष्टि से हम ज्यादा से ज्यादा आधुनिक होते जाते हैं पर विचारों के क्षेत्र में फिर से उस अंधकार-युग की ओर लौट रहे हैं। बेटों को बाप की तुलना में ज्यादा तार्किक और आधुनिक होना चाहिए, पर उसका उल्टा हो रहा है। राकेश बिहारीजी बिल्कुल सही कहते हैं कि -- "नौकरी तो ऐसे ही सभ्य समाज में महिलाओं के लिए वर्जित क्षेत्र रहा है। ऊपर से यदि नौकरी पुलिस विभाग की हो तो विरोध के स्वर का तीखा होना स्वाभाविक ही

है, लेकिन इस पुस्तक में संकलित संवाद-नायिकाओं की जिजीविषा को सलाम करना चाहिए, जिन्होंने न सिर्फ़ उन अवरोधों के पार जाकर अपने जीवन की लड़ाइयां लड़ी, बल्कि अपनी आनेवाली नस्लों के लिए साहस के दरवाजे भी खोल दिए।"[145]

और यह उपन्यास उन्हीं लड़कियों पर आधारित है। अतः सुरेश पंडित ने इसकी समीक्षा करते हुए उसका शीर्षक यथार्थ ही रखा है – "उन लड़कियों को सलाम" ।[146] इन लड़कियों में इला, समीना, प्रिया, करुणा श्रीवास्तव, लक्ष्मी, मनीषा, विद्या, विभा, दामिनी, मोनिका, जाहिदा, सुदीपा, रेखा, अंजू, सुरेन्दर कौर आदि हरियाणा की वे लड़कियाँ है जो ट्वेल्थ पास करके स्पोर्टस के कारण पुलिस में चुन ली जाती हैं। यह भी एक अजीब बात है कि पुरुषवादी वर्चस्व, मर्दवादी सोच और मध्यकालीन सामंतवादी मानसिकता हरियाणा में सर्वाधिक रुप से पायी जाती है और उसी राज्य में ये लड़कियाँ कुछ कर गुजरने की मंशा के साथ पुलिस में भर्ती हो रही हैं। उपन्यास के प्रारंभिक पृष्ठों में ही मैत्रेयीजी ने उपन्यास की पीठिका को स्पष्ट किया है –

"यह तब की बात है, जब हमारा हरियाणा प्रदेश इक्कसवीं सदी का पहला दशक खतम होते-होते "स्त्री-संहार" के लिए दुनियाँ भर में मशहूर हो गया था। यहाँ तक कि जो वर्ग धार्मिक जागरण में लगा हुआ था, वहाँ भी उपदेशों के बाद बाकायदा गुरुओं की भीतरी गुफाओं में बलात्कारों के नियमित कार्यक्रम चलते थे। यह आधुनिक भारत का नवजागरण था न जाने कितने मठ, कितने आश्रम, कितने पीठ कुकुरमुत्तों की तरह उदय हुए, जो किलों, गढ़ों और दुर्गो में बदल गए। .. राजनीति का अर्थ है, गिरोहबंध अपराधों को कानूनी मान्यता के रूप में सरंजाम देना। दरअसल सरकारें धन्धे पूरी तरह से भ्रष्टाचार पर टिके थे। अलबत्ता राजनीतिज्ञों ने इन्हें "आम आदमी" से जोड़

रखा था । इन राजनीतिज्ञों में हरियाणा की तीनों पार्टियों के कर्ता धर्ता और प्रमुख थे । अपनी पूरी शक्ति के साथ शामिल थे । तभी तो वे सब कन्या हत्या या स्त्री-हन्ता होने को समर्थन दे रहे थे । आखिर उन्हें भी तो अपनी "इज्जत " का खयाल था ।"[147]

उपर्युक्त उद्धरण में दो वाक्य गौरतलब हैं । "यह आधुनिक भारत का नवजागरण था ।" उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उत्पन्न "नवजागरण" ने स्त्रियों और दलितों को जो दिया था, आधुनिक (?) भारत का यह नवजागरण वह सब उनसे छीनकर उनको फिर से मध्यकाल की ओर खदेड़ रहा था । दूसरा वाक्य है – "आखिर उन्हें भी अपनी "इज्जत" का ख्याल था ।" यहाँ "इज्जत" शब्द में अर्थ-संकोच आ गया है । चोरी करना, धोखा देना, अपनी बात से मुकर जाना, किसी की पीठ में छूरा भोंक देना, हत्या करना, बलात्कार करना, चीजों में मिलावट करना, धोखाधड़ी से किसीकी जमीन हड़प लेना ये सब "बेइज्जती" के काम हैं । पर इन सबमें हमारी इजत नहीं जाती है, बल्कि ये सब करनेवाले "इज्जतदार" लोग कहलाते हैं । दरहकीकत बलात्कारी को "बेइज्जत" होना चाहिए, पर होता उल्टा है, जिस पर बलात्कार होता है उसे लोग "बेइज्जत" हो गयी ऐसा कहते हैं । हमारी सारी इजत और चरित्र केवल स्त्री में सिमट आये है । कोई लड़की प्रेम करे, अपने प्रेमी के साथ विवाह करना चाहे, विवाह में अवरोध उत्पन्न होने पर अपने प्रेमी के साथ भागकर शादी कर ले, किसी लड़की को अपने ही गोत्र के किसी लड़के से प्रेम हो जाए और उससे वह शादी करना चाहे या शादी कर ले ; दूसरी जाति या दूसरे धर्म के व्यक्ति के साथ विवाह करे, इन सबमें हमारी इज्जत चली जाती है और उसके लिए लोग कन्याओं की और उनके प्रेमियों की भी हत्या कर डालते हैं और उसे "ओनर-कीलिंग" जैसा खूबसूरत नाम दिया जाता है । अलबत्त तकनीकी और वैज्ञानिक उपकरणों में हम आधुनिक हो रहे है, लेकिन विचार के क्षेत्र में पुनः

पशुता की ओर जा रहे हैं। इन सब मुद्दों को इला, समीना, प्रिया, मनीषा जैसी पुलिस कर्मचारी लड़कियों के माध्यम से लेखिका उठा रही हैं। कहा जाता है – "नोवेल इज़ ए बन्च आफ स्टोरीज़।" तो यहाँ भी ढेरों कहानियां है, पर ये सभी कहानियां इला, समीना या जयंत (इला का पुरूष-मित्र) से सम्बद्ध है या उपन्यास में वर्णित परिवेश और उसकी समस्याओं से सम्बन्द्ध है और इस तरह ये सब कहानियां एक उंपन्यास का रूप ले लेती है।

जिस प्रकार कहा जाता है कि -- नोवेल इज़ ए बन्च आफ स्टोरीज़", उसी तरह यह भी कह सकते हैं कि -- "नोवेल इज़ ए बन्च आफ जेनर्स" अर्थात् उपन्यास में अनेक विधाओं का समावेश होता है। उसमें कहानी, संस्मरण, रिपोताज, निबंध, पत्र, डायरी आदि अनेक विद्याओं का समन्वय होता है। प्रस्तुत उपन्यास में भी हम इसे देख सकते हैं।

उपन्यास की नायिका इला शादी के मंडप से भागकर सीधे पुलिस में भर्ती हो जाती है और प्रशिक्षण केन्द्र में प्रशिक्षित होकर बाकायदा एक पुलिस कर्मचारी हो जाती है। बड़ी बहेन के साथ उसका भी ब्याह हो रहा था, बहन के देवर के साथ और इला उस समय विवाह नहीं करना चाहती थी। इला में हमें वह लड़की मिलती है जो अपने वजूद को तलाशना और तराशना चाहती है। पुरूषों की बनाई हुई इस दुनिया में वह नाचने वाली गुड़िया नहीं बनना चाहती थी। कहा जाता है – "मैन इज़ नोन बाय द बुक्स टू व्हिच ही / शी रीड़ज़"। इला की जो सोच है उसके पीछे भी उसका अध्ययन है। "यह तो समीना और प्रिया भी कहती है कि इला ने सिमान द बोउवार से लेकर वर्जीनिया वुल्फ, जर्मन ग्रियर, महादेवी वर्मा, इस्मत चुगताई से तस्लीमा नसरीन तक की किताबें पड़ी है।"[148] और यह सब पाश लायब्रेरी, करनाल के कारण हो पाया था।

उपन्यास में महिला पुलिस अफसर सुरेन्दरकौर का जिक्र भी आता है जिसका मानना है कि -- "ज्यादा से ज्यादा महिलाओं को पुलिस में आना होगा । इस सर्विस के लिए औरतों का सबसे ज्यादा उपयुक्त पक्ष है उनका हमदर्दी भरा व्यवहार । हमदर्दी से हिम्मत आती है तभी तो ज्यादातर केसों में महिलाएँ पुरूषों के मुकाबले ज्यादा निष्ठावान साबित हुई हैं ।"[149] इला जब अपने विभाग की करतूतों से निराश हो जाती हैं तब समीना उसे समझाती है – इला, इतनी उदास मत हो, निराशा में मत डूबो । सुरेन्दरकौर की मुरादें सुनो । उनकी पुकार पर गौर करो । इरादा तो ऐसा ही है न कि तुम हो या मैं, मैडम विश्नोई नहीं बनेंगे । मैडम सांगवान होने के लिए यहाँ हम नहीं आए कि सताई गई औरतों के दर्द से खेलें । माना कि ढर्रा तोड़ना करीब-करीब नामुमकिन है, मगर इसे मंजूर कर लेना सबसे बड़ा गुनाह है ।"[150]

समीना एक मुस्लिम लड़की है । उसके अब्बू और अम्मी कतई नहीं चाहते थे कि समीना आगे ज्यादा पढ़े या नौकरी करे । पर समीना भी इला की तरह दूसरी मिट्टी की बनी थी । अतः पहले वह पत्रकार बनती है और इला से सम्पर्क में आने के बाद पुलिस कर्मचारी । समीना के अम्मी-अब्बा इसके लिए राजी हो जाते है क्योंकि मौलवी साहब समीना के मन-माफिक रिश्ता लाते हैं । बदस्ददीन खान का बेटा आसिफ खान समीना के लिए माकूल शौहर ही था । समीना की हर मुराद का ख्याल रखा गया, यहाँ तक कि निकाह की तारीख भी उससे पूछकर तय की गई । आसिफ का मिजाज और चलन देखकर समीना को लगा कि अब्बू के बाड़े से तो आसिफ का साथ कहीं बेहतर है, जहाँ बुर्का-नकाब तो दूर, शलवार-कमीज पर दुपट्टे का बंधन तक नहीं था । आसिफ का कथन था – "दुपट्टा । कपड़े के ऊपर कपड़ा ओढ़ना मेरी समझ में नहीं आता ।"[151] समीना ऐसे शौहर को पाकर खूब खुश थी और शायद उसकी यह

खुशफहमी बनी रहती यदि समीना को लक्ष्मी मैडम न मिलती। लक्ष्मी मैडम, गुड़गाव में एस.एच.ओ. थी। घरेलू हिंसा के संदर्भ में शान्ता नामक एक औरत अपने पति के खिलाफ एफ.आई.आर दर्ज करवाने आती है, तब उसी सिलसिले में लक्ष्मी मैडम अपना किस्सा सुनाती है कि जब तक वह अपनी सारी कमाई ससुर और पति के हाथ में रख देती थी तब तक वह हीरा बहू थी। सती थी, सीता और सावित्री की तरह पर जब उन्होंने बैंक में अपना खाता खुलवाया कि कभी अपने पर या बच्चों पर अपनी तरह, अपनी तरफ से कुछ खर्च कर सकें।" बस हो गया शाबाशियों और नेक औरत का अन्त। अब उनकी निगाह में मैं एक नाजायज औरत थी जो तनख्वाह मिलते ही यारों के साथ गुलछर्रे उड़ाने निकल जाती हैं। .. समझीं यह औरत की आर्थिक मजबूती का खामियाजा है।"[152] समीना को तनख्वाह दो तारीख को मिलती थी और आसिफ मियां पांच तारीख को आकर सारे रूपये बटोर जाते थे। लक्ष्मी मैडम की बात को सुनकर जब समीना ने भी वही रास्ता अख्तियार किया तो आसिफ मियां की सारी आशिकी का पर्दाफाश हो गया। समीना एक फाहिशा औरत हो गयी थी। लक्ष्मी मैडम सही कहती थी – "तुम लोग नये जमाने की नयी औरत के रूप में उभर रही हो। पहले कमाने का जिम्मा मर्द का होता था, अब औरत भी अपने पांवों खड़ी हो रही है। खड़ी तो हो रही है लेकिन उसे खड़ी रहने देते कहां हैं ?"[153]

उपन्यास एक नयी जमीन को लेकर आया है। वैसे तो अनेक उपन्यासों में पुलिसों की करतूतें यदा -कदा चित्रित हुई हैं, परंतु समूचा उपन्यास पुलिस कर्मचारियों, विशेषतः महिला पुलिस-कर्मियों के आसपास बुना गया हो, कदाचित ऐसा पहली बार हुआ है। इधर जो महिला सशक्तिकरण के तहत नये कायदे बन रहे हैं उनके अंतर्गत किसी महिला अपराधी को पकड़ लाना हो तो उसके लिए महिला पुलिस को साथ लेकर जाना पड़ता है। फलतः इला,

समीना आदि महिला पुलिसकर्मियों की जरूरत पड़ती है । इनकी ड्यूटी के संदर्भ में इला ने बड़ी ही तीखी टिप्पणी की है जिसका जिक्र हम ऊपर कर चुके हैं ।[154] इला, समीना आदि पुलिस की निम्न कैटेगरी में आती हैं, पर इधर आई.पी.एस. करके या ग्रेज्युएशन करके प्रमोशन पाते हुए कुछ महिलाएं पुलिस विभाग में ऊंचे ओहदों तक पहुंची हैं । किरण बेदी उनका रोल मोडेल होती है । उनमें कुछ तो सचमुच में उन आदर्शों का निर्वाह करती हैं, ऊपर सुरेन्दर कौर और लक्ष्मी मैडम का उदाहरण तो दिया ही गया है, इनके अतिरिक्त करुणा श्रीवास्तव, सोमा दीदी, सुशीला दीदी, आदि के नाम भी लिए जा सकते हैं ।[155] लेकिन इन अच्छी अफसरों की तुलना में खराब, दुष्ट, भ्रष्ट महिला अफसर ज्यादा हैं जिनमें रमा बंसल, सरिता विश्नोई, विमला उपाध्याय, संतोष शर्मा, कामिनी जैसवाल, मैडम सांगवान आदि हैं । भ्रष्ट, शराबी-कबाबी और चरित्रहीन पुलिस् अफसर तथा पुलिसकर्मी ज्यादा हैं, लेकिन यहाँ भी मरुद्वीप की भांति एस.पी. मित्तल साहब, जयंत, एस.एच.ओ आर.पी.सिंह, डी.जी.पी.सर, लाल बहादुर सर, राजकुमार सर जैसे चन्द अच्छे लोग भी हैं । लब्बोलुबाव बात यह है कि उपन्यास का समग्र परिवेश पुलिस-विभाग और उसकी कारगुजारियां है ।

उपन्यास में ऐसी कुछ पूरजोर आवाजें हैं जिनको गुनाह के स्वर मानकर सजाओं से गुजारा गया हैं । इसमें रेशमी की कहानी है जिस पर उसके ही बाप ने बलात्कार किया था और इस तरह उसे वेश्या होने के लिए मजबूर कर दिया गया था,[156] लगभग ऐसी ही कहानी रौनक नामक लड़की की थी,[157] सुनीता की कहानी है जिसको उसके चाचा ने एक ट्रकवाले के हाथों बेच दिया था, जब ट्रक वाले का दिल भर गया तो उसने दूसरे ट्रकवाले को पांच हजार रुपये में बेच दिया था,[158] ममता का पति कैदखाने में था, वह अपने पति की रिहाई की

गुहार लगाने थाने आयी थी तो थाने के ही लोगों ने उसका गैंग-रेप किया,[159] शान्ता घरेलू हिंसा का शिकार है, उसका पति बेरहमी से उसकी पिटाई करता रहता था,[160] अर्चना तो पढ़ी-लिखी और नौकरीशुदा औरत है, महीने पन्द्रह हजार रूपये कमाती है फिर भी मैके से और पैसे ऐंठने के लिए उसे जब-तब बुरी तरह से पिटा जाता है, इतना कि उससे आरिज आकर वह पति को तलाक देना चाहती थी पर विमैन सेल की अफसर रमा बंसल उसे समझा-बुझाकर घर भेज देती है और दो महीने के बाद खबर मिलती है कि विष देकर उसकी हत्या की गई है, दूसरी ओर उसका पति उसे आत्महत्या बताता है,[161] शीतल पर पति की हत्या का आरोप है जो अपने शराब-कबाब और जुए के लिए अपनी ही पत्नी का दोस्तों द्वारा बलात्कार करवाता था,[162] इला-समींना के सामने एक ऐसा केस आता है जिसमें लड़की का बलात्कार उसका चचाजाद भाई प्रेमपाल करता है और एफ.आर.आई में से उसका नाम खारिज कराने के लिए उसके ताऊ और गाँव का संरपंच तक एड़ी-चोटी का जोर लगा देते है,[163] मुजरिम 302 चार-पांच लड़कियों की मां है, उस पर अपनी बेटी के सास-ससुर की हत्या का आरोप है, उसकी बेटी गुलाब की हत्या उसके पति ने की थी और अब उसके सास-ससुर अपनी सारी जमीन बेटी-दामाद को दे रहे थे, इस प्रकार यह एक उलजा हुआ केस है जिसमें कई चीजें गड्डमगड्ड हो गयी हैं, यह वही केस है जिसे रोलर की थर्ड डिग्री दी जाती है और उसीमें थाने में ही उसकी मौत हो जाती है,[164] (रोलर की सजा में औरत को नंगी करके उसकी जांघों पर रोलरनुमा डंडा रखा जाता है और फिर उस पर दो-चार सिपाहियों को चढ़ाया जाता है।)[165] शारदा है जिसने अपने बेटे की हत्या की है क्योंकि बेटा सुनील अपनी ही सहोदरा कंचन के साथ बलात्कार करता है, सुनील और कंचन की मां शारदा, बाप अलग, सुनील के पिता की मौत के बाद शारदा ने

अपने देवर से शादी कर ली थी, कंचन उसीसे थी, सुनील को अपनी मां से नफरत थी, कंचन पर बलात्कार करके सुनील ने संजय नामक युवक को उसमें फंसा दिया कि बलात्कार संजय ने किया है, पहले उसका सम्बन्ध उसकी मां शारदा से था, जब मां से दिल भर गया तो लड़की को फंसा दिया (ऐसा था नहीं, ऐसा सुनील पुलिस में लिखाता है), लड़का राक्षस हो रहा था, अतः सगी माँ ने उसकी हत्या कर दी थी,[166] ये और ऐसी अनेकों अपराध-कहानियाँ है। अपराध जो औरतों ने किए है पर क्यों किए है उसकी तफतीस में कोई नहीं जाना चाहता। उपन्यास के अंत भाग में इला यथार्थ ही कहती है –"जो औरतें यहाँ मुजरिम की तरह लाई जाती हैं, उनको गौर करके देखो, कुछ सिपाही हैं कुछ शहीद। वे जुल्म के खिलाफ़ जंग लड़ती हैं और कसूरवार ठहराई जाती है।"[167] अन्यत्र इला के मनोमंथन में यह टिप्पणी आई है – "कानून को अपने हाथ में लेनेवाली औरतें क्या करें ? जब मर्दो का जत्था इस कदर बिगड़े सांड़ों का दल बन जाए ? बेटी के रूप में वेश्या बनाई गई लड़की क्या करे जब उसकी खुली देह को नौंचा-खसोटा जाए ? फूलनदेवी। तुमने पैगाम दे दिया कि हौंसला ऐसा होता है। सैक्सुअल तमाशे का हश्र हत्या में गुजरता है। अब इला थाने के कानून को कैसे मानेगी, कैसे निभाएगी ?"[168] इस प्रकार के कई प्रश्नों को उकेरता है उपन्यास।

कई दिनों के बाद जब इला को उसके परिवार में स्वीकृति मिल जाती है और इला के पिता धनंजयसिंह जब अपनी वर्दी वाली बेटी पर फक्र करने लगते हैं तब इला अपने गाँव जाती है कुछ दिनों के लिए। तब मां की बातों के जरिए खाप पंचायतों के मनस्वी क्रूर पैशाचिक फतवों और "ओनर किलिंग" के बहुत से किस्से सामने आते हैं। कई युवक-युवतियों को मौत के घाट उतार दिये जाते हैं। पुलिस-प्रशासन सब उनके साथ होते हैं। इस संदर्भ में स्विटी नामक

एक लड़की का कथन आया है जो चौका देनेवाला है और हमारे तथाकथित लोकतंत्र पर सवालिया निशान करता है – "आइए प्रवीण अग्रवाल साहब, आपका खाप पंचायतों में स्वागत है । घबराईए मत, गर्व कीजिए कि आप भी हरियाणा की मिट्टी की शानदार पैदावार हैं .. धरती से जुड़े लोग ऐसे ही होते हैं, हमारी युवा पीढ़ी को नया ज्ञान हुआ है .. ज्ञात हुआ हैं कि बबली और मनोज के हत्यारों को जिस महिला जज ने फांसी की सजा सुनाई है, उसका आप घोर विरोध करते है .. संस्कृति की रक्षा ऐसे ही होती है साहब । .. अब कैसे कहें कि मै शिल्पी उर्फ स्वीटी, मेरा साथी विजेन्द्र दोनों भगोड़े हैं .. जिन्दगी बचाने का उपाय केवल भगोड़ा बनना रह गया था क्योंकि आप जैसे देश के कर्णधारों के सामने हम अपने नागरिक अधिकारों का जिक्र तक नहीं कर पाएंगे । हम जैसे कितने ही युवक-युवतियाँ है, जिनको वोट देने का अधिकार तो संविधान ने दे दिया, अपने चुनाव का सामाजिक न्याय अब तक नहीं मिला .. लोकतंत्र पर गौर करिए.. अग्रवाल साहब, हमारे इलाके से सांसद के तौर पर ख्याति-पुरूष हैं । पढ़े-लिखे ज्ञानवान माने जाते हैं । आप यह बात तो जानते होंगे कि औरतों की जाति क्या होती है ? कोई जाति नहीं है हमारी । हम पिता की जाति से निकलकर पति की जाति में बिला जाते हैं .. फिर हमें क्यों जाति की सूली पर चढ़ाया जा रहा है ? इसलिए कि हमें सलीब पर लटकाकर जो नुमाइश होगी, उसका आप उद्घाटन करेंगे और आपका जय-जयकार होगा । आपका वोट-बैंक निरंतर बढ़ता जाएगा क्योंकि अकेले कुरूक्षेत्र में कुल जनसंख्या का सत्रह प्रतिशत जाटों (खापों) का गणना अंक है । और शुमार कराइए कि खापों ने कितने कत्ल कराए, कितनी लाशें बिछाईं, कितने शानदार रूप में पेड़ों पर झूलते शव .. हरियाणा के पर्यटन स्थल अपनी श्री सुषमा के लिए देश-विदेश में मशहूर हो गए हैं, अपनी पीठ थपथपाइए ।"[169] "जाटों" के ब्रेकेट में "खापों" को रखकर लेखिका ने अपने कथा-चातुर्य को प्रकट किया है ।

राजेन्द्र यादव ने "फतवों की दुनिया" नामक अपने संपादकीय में लिखा है – "अजीब बात है कि एक ही क्षेत्र में जाट, गुर्जर और यादव जातियों के शक्तिशाली संगठन हैं। मगर "खाप" जैसी किसी संस्था का नाम इन शेष दोनों जातियों में सुनाई नहीं देता। क्या अब समय नहीं आ गया है कि साहसपूर्वक वोट की राजनीति से ऊपर उठकर इन खापों को समाप्त कर दिया जाए।"[170]

अंततः यह कहना होगा कि पुलिस में इला, समीना, प्रिया, सोमा दीदी, सुशीला दीदी, सुरेन्दर कौर जैसी महिलाएं यदि आ जाएं तो बहुत-सी "बेगुनाह" औरतें "गुनाह" करने से बच जाएं। अभी हाल ही में सुमन नलवा नामक पुलिस-ओफिसर का नाम आया है जो "क्राइम अगेइन्स्ट विमेन सेल" के अंतर्गत महिलाओं को आत्मरक्षा में दक्षता प्राप्त करने के गुर सिखा रही हैं।

निष्कर्ष :

अध्याय के समग्रावलोकन के उपरान्त हम निम्नलिखित निष्कर्ष तक सहजतया पहुंच सकते हैं –

(1) मैत्रेयी पुष्पा के औपन्यासिक लेखन का प्रारंभ सन् 1990 में "स्मृतिदंश" नामक उपन्यासिका से हुआ था, जिसका ही कथा-विस्तार हमें "बेतवा बहती रहीं" (सन् 1993) में मिलता है, किन्तु ये दोनों रचनाएं अति-भावुकता से ग्रसित है। उपन्यास के लिए जिस निर्मम कठोरता की आवश्यकता होती है, विजन और यर्थाथ की पकड़ जो होनी चाहिए, उसके दर्शन हमें सर्वप्रथम "इदन्नमम" (1994) में होते हैं। वस्तुतः यह वही उपन्यास है जिसके द्वारा उपन्यास-साहित्य में मैत्रेयीजी की एक पहचान बनती है।

(2) "इदन्नमम" के उपरान्त मैत्रेयीजी के निम्नलिखित उपन्यास आते है : "चाक" (1997), "झूलानट" (1999), "अल्मा कबूतरी" (2000),

"अगनपाखी" (2001), "विजन" (2002), "कही ईसुरी फाग" (2004), "त्रियाहठ" (2005), "गुनाह-बेगुनाह" (2011) । इस तरह "स्मृतिदंश" को यदि गिना जाय तो अधावधि उनकी ग्यारह औपन्यासिक रचनाएं हमारे सामने आती हैं ।

(3) "इदन्नमम" के उपरान्त उनके औपन्यासिक कौशल का ग्राफ निरंतर ऊपर उठता हुआ गया है । हिन्दी उपन्यास साहित्य का शायद कोई ही समीक्षक होगा जिसने प्रस्तुत उपन्यास की चर्चा न की हो । इस प्रकार उनका अधावधि औपन्यासिक लेखन पन्द्रह-सोलह साल का ठहराता है । इस बीच में उनकी दो आत्मकथाएं भी आयी है -- कस्तूरी कुण्डल बसै और गुड़िया भीतर गुड़िया । "चिन्हार", "गोमा हंसती है", "ललमनियां तथा अन्य कहानियां", पियरी का सपना, प्रतिनिधि कहानियां" आदि कहानी-संग्रह भी इसी बीच आते हैं । "खुली खिड़कियां" तथा "सुनो मालिक सुनो" उनके स्त्री-विमर्श से सम्बद्ध किताबें हैं । इसके अलावा "फाइटर की डायरी" रिपोर्ताज है । अंतिम (अद्यावधि-पर्यन्त) उपन्यास "गुनाह-बेगुनाह" फाइटर की डायरी पर ही आधारित है । पन्द्रह-सोलह साल की अवधि में इतना विपुल साहित्य कइयों को आश्चर्य में डाल देता हैं । परंतु यह तो उनका "जुगाली" का समय हैं । पचास साल के बाद तो उन्होंने लिखना शुरू किया है, अतः जीवनानुभवों के अर्जन का काल उनका बड़ा सुदीर्घ रहा है । जीवनानुभवों की प्राप्ति के उपरान्त परिपक्वावस्था में उनके लेखन का प्रारंभ होता है । दूसरे नौकरीशुदा न होने के कारण भी उन्हें लिखने का अधिक अवकाश मिला है ।

(4) "विजन" को छोड़कर उनके शेष उपन्यास ग्रामीण पृष्ठभूमि पर आधारित है । "गुनाह-बेगुनाह" में मिश्रित परिवेश है, पर उसमें जिन स्त्रियों को अपराधी के रूप में लाया जाता है वे प्रायः ग्रामीण पृष्ठभूमि से है ।

"विजन" में दिल्ली-आगरा आदि का महानगरीय परिवेश है । "गुनाह-बेगुनाह" को छोड़कर अन्य ग्रामीण पृष्ठभूमि वाले उपन्यासों में बुंदेलखण्ड के ग्रामीण परिवेश को लिया गया है । "गुनाह-बेगुनाह" का देशगत परिवेश हरियाणा का है ।

(5) मैत्रेयी पुष्पा के प्रायः सभी उपन्यास नायिका प्रधान हैं । ऐसा कहा जाता है कि प्रेमचंद अपनी रचनाओं में गाँव की स्त्रियों को लाए हैं, लेकिन मैत्रेयी पुष्पा अपने लेखन में स्त्रियों का गाँव लेकर आयी हैं । "बेतवा बहती रही" की उर्वशी को छोड़कर प्रायः उनके सभी उपन्यासों की नायिकाएँ बड़ी सशक्त, जूझारू, जीजिविषा संपन्न और जीवटवाली रही हैं । यह शक्ति इन नायिकाओं ने संघर्ष के द्वारा प्राप्त की है । इन नायिकाओं में "इदन्नमम" की मंदा, "चाक" की सारंग, झूला नट" की शीलो, "अल्मा कबूतरी" की कदमबाई और अल्मा, "अगनपाखी" की भुवन, "विज़न" की आभा, "कही ईसुरी फाग" की रजऊ, "त्रिया-हठ" की उर्वशी ("बेतवा बहती रही" की उर्वशी का पुनर्पाठ), "गुनाह-बेगुनाह" की इला आदि नायिकाओं को हिन्दी उपन्यास का पाठक अपने स्मृति-कोश में रखना जरूर चाहेगा ।

(6) मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों का कालगत परिवेश स्वाधीनता के उपरान्त लगभग सातवें-आठवें दशक के बाद का है । लेखिका ने बाबरी-मस्जिद-ध्वंश और उसके दुष्परिणाम (इदन्नमम), गाँवों में पनपती गन्दी घिनौनी संकीर्ण राजनीति (इदन्नमम, चाक) जमीन-जायदाद के झगड़े (इदन्नमम, चाक, झूला-नट, त्रिया-हठ), सन् २००२ का गुजरात-नरसंहार (कही ईसुरी फाग), मेडिकल-जगत की विसंगतियां (विज़न), स्त्रियों पर होनेवाले अत्याचार, बलात्कार, जलात्कार, हत्याएं, घरेलू हिंसा, खाप पंचायतों के अमानवीय फतवे (इदन्नमम,

चाक, बेतवा बहती रही, झूला नट, त्रिया-हठ, अगनपाखी, विजन, गुनाह-बेगुनाह) इत्यादि का चित्रण यथास्थान किया है।

(7) परिवेश की दृष्टि से उनके निम्नलिखित उपन्यास अलग पड़ते है – विज़न, अल्मा कबूतरी, कही ईसुरी फाग, गुनाह-बेगुनाह। विजन का परिवेश महानगरीय है और उसमें मेडिकल जगत की कुछ विसंगतियों को उकेरा गया है। "अल्मा कबूतरी" में बुंदेलखण्ड की कबूतरा जाति के जीवन-संघर्ष और उनके मानवीय अधिकारों को केन्द्रस्थ रखा गया है, कही ईसुरी फाग का कालगत परिवेश विस्तृत है। उसमें सन् १८५७ के प्रथम स्वाधीनता-संग्राम की घटनाओं से लेकर गुजरात के गोधरा-कांड तक की घटनाओं को समेटा गया है। "गुनाह-बेगुनाह" में हरियाणा के परिवेश को चित्रित किया गया है।

(8) मैत्रेयीजी का नारी-विमर्श स्त्री बनाम पुरुष वाला नहीं हैं। वह दोनों में बराबरी की पक्षकार हैं। स्त्री दासी या सेविका न होकर सच्ची जीवन-सहचरी बने यही उनकी मंशा रहती है। हर प्रकार के दमन, अत्याचार, अन्याय और शोषण के खिलाफ उनका लेखन है। उन्हें मानवीय मूल्यों और धर्म-निरपेक्ष मूल्यों (सेक्यूलरीज़म) की दरकार है।

(9) योनि-शुचिता और सती विषयक उनके ख्याल भी दकियानुस प्रकार के नहीं है। उनके यहाँ संघर्षकामी और जीवन के संकटों से जुझने वाली स्त्री ही सती है। योनि-शुचिता के परंपरागत मूल्यों को भी वह नकारती हैं"। माना कि बलात्कार एक धिनौना अपराध है। असंदिग्धतया वह नारी का अपमान है, परंतु स्त्री को इससे ऊपर उठना चाहिए। बलात्कृत होने के बावजूद इदन्नमम की मंदा अपनी शक्ति और संघर्ष से अपनी एक पहचान बनाती है। समाज में बलात्कारी व्यक्ति को धिक्कारा जाना चाहिए, न कि बलात्कृत स्त्री को। उनके लिए यौन-मुक्त का अर्थ यौन

स्वेच्छाचार नहीं है । स्त्री की परिवार-प्रतिबद्धता को वह भी स्वीकार करती हैं, परंतु उसमें किंचित् से विस्खलन को वह ज्यादा तरजीह नहीं देती । यौन वंचिता स्त्री के यौनाधिकार को भी वह अंगीकृत करती हैं । कुसुमा भाभी और शीलो इसके उदाहरण है । स्त्री-पुरूष के संयोग-चित्रों में उन्होंने संकेतात्मक शैली का निर्वाह किया है । इस प्रकार के चित्र उनके उपन्यासों में प्रायः मिलते हैं ।

(10) उनके उपन्यासों में लोकभाषा, लोकगीत, लोक-नाट्य, फाग-गान-परंपरा इत्यादि का निर्वाह उपलब्ध होता है । शादी ब्याह या तीज-त्यौहारों मे गाए जाने वाले गीत की परंपरा उनके उपन्यासों में मिलती है । उनकी स्त्रियाँ प्रायः ग्रामीण हैं, जो गाती-गुनगुनाती है । सम्प्रति लखनऊ में संपन्न "असहमति के स्वर : लोकतंत्र और कथा-साहित्य" की एक संगोष्ठी में प्रथम सत्र की अध्यक्षता करते हुए मैत्रेयीजी ने कहा था : "असहमतियों का जीता-जागता उदाहरण स्त्रियाँ हैं । जब कथा साहित्य नहीं था तब से वह अपनी असहमतियाँ लोकगीतों के माध्यम से अभिव्यक्त करती आ रही है ।" (प्रस्तुति- मनोजकुमार वर्मा, हंस-दिसम्बर-2012, पृ. 89) अतः प्रायः सभी उपन्यासों में लोगगीतों की उपस्थिति हमें मिलती है ।

(11) मैत्रेयीजी का औपन्यासिक शिल्प संश्लिष्ट और जटिल होता है । कथा कहीं भी "ए टु झेड" नहीं चलती । अनेक स्थानों पर अधोमुखी कथा-प्रवाह दृष्टिगोचर होता है । पूर्व-दीप्ति, स्वप्न, प्रसंग-सहचयन, शब्द-सहचयन आदि के सहारे उनकी कथा आगे-पीछे चलती रहती है । अतः पाठक को बहुत ही सजग रहना पड़ता है । पत्र, डायरी, रिपोर्ताज, संस्मरण, निबंध आदि अन्य काव्यरूपों का प्रयोग भी उनके उपन्यासों में

मिलता है । इस तरह वस्तु और शिल्प उभय दृष्टि से मैत्रेयीजी के उपन्यास महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय बन जाते हैं ।

===== X X X X =====

:: **सन्दर्भानुक्रम** ::

(1) दृष्टव्य : "स्त्री-लेखन : स्वप्न और संकल्प" : डा. रोहिणी अग्रवाल : पृ. २०२-२४० :

(2) दृष्टव्य : "मैत्रेयी पुष्पा : तथ्य और सत्य" : संपादक-दया दीक्षित : पृ. ३०३ ।

(3) वही : लेख-प्रकाश उदय : पृ. ५० ।

(4) आओ पेपे घर चलें : प्रभा खेतान : पृ. ३५ ।

(5) "मैत्रेयी पुष्पा : तथ्य और सत्य" : लेख - डा. वेदप्रकाश अमिताभ पृ. ४६ ।

(6) त्यागपत्र : जैनेन्द्र : संस्करण – १८८१ : पृ. ८ ।

(7) बेतवा बहती रही : मैत्रेयी पुष्पा : पृ. १४२ ।

(8) उग्रतारा : नागार्जुन : पृ. ४२ ।

(9) और (10) : बेतवा बहती रही : पृ. क्रमशः ३४, ३२ ।

(11) "मैत्रेयी पुष्पा : सत्य और तथ्य" : लेख-डा. वेदप्रकाश अमिताभ : पृ. ४७-४८ ।

(12) मानसमाला : डा. पारूकान्त देसाई : पृ. ३५ ।

(13) "मैत्रेयी पुष्पा : तथ्य और सत्य" : लेख-प्रकाश उदय : पृ. ५२ ।

(14) कुछ विचार : प्रेमचंद : पृ. ४६ ।

(15) "हिन्दी की उपन्यास-त्रयी : राग दरबारी, मुझे चांद चाहिए तथा काशी का अस्सी - का भाषिक-संरचना की दृष्टि से अध्ययन" डा. पूरबी पारूकान्त देसाई (शोध-प्रबंध : म.स. विश्वविद्यालय, बड़ौदा) पृ. ११५ ।

(16) इदन्नमम: मैत्रेयी पुष्पा : पृ. २१७ ।

(17) वही : पृ. २१८ ।

(18) दृष्टव्य : आधुनिक हिन्दी उपन्यास : खण्ड-२ : सं. डा. नामवर सिंह : पृ. ।

(19) और (20) : इदन्नमम : पृ. क्रमशः ४२४, ४१५ ।

(21) से (25) : दृष्टव्य : वही : पृ. क्रमशः

(26) : इदन्नमम : मैत्रेयी पुष्पा : पृ. १०५ (27) वही : पृ. १०७

(28) दृष्टव्य : वही : पृ. २१६ । (29) वही : पृ.

(30) से (32) : दृष्टव्य – वही : पृ. क्रमशः २४६, ३१३, १७३-४२४ ।

(33) दृष्टव्य : वही : पृ. ।

(34) वही : द्वितीय मुखपृष्ठ से ।

(35) हिन्दी उपन्यास का इतिहास : डा. गोपालराय : पृ. ३८७ ।

(36) हिन्दी के अधुनातम नारी उपन्यास : डा. इन्दुप्रकाश पाण्डेय : पृ. ७५ ।

(37) आधुनिक लेखिकाओं के नगरीय परिवेश के उपन्यास : डा. पारूकान्त देसाई : पृ. १३९ ।

(38) हिन्दी उपन्यास की दिशाएं : डा. वेदप्रकाश अमिताभ : पृ. १७५

(39) वही : पृ. १७८ ।

(40) दृष्टव्य : मैत्रेयी पुष्पा : तथ्य और सत्य : पृ. ५७

(41) से (44) : चाक : मैत्रेयी पुष्पा : पृ. क्रमशः २५, २५, २८, २८ ।

(45) दृष्टव्य : "हिन्दी उपन्यास साहित्य की परंपरा में साठोत्तारी उपन्यास" : डा. पारूकान्त देसाई : पृ. २२० ।

(46) और (47) : चाक : पृ. क्रमश : ३३, ४१ ।

(48) सूखे सेमल के वृन्तों पर : डा. पारूकान्त देसाई : पृ. ७२ ।

(49) से (51) : दृष्टव्य : चाक : पृ. क्रमशः १२३, ३२४, ९९ ।

(52) दृष्टव्य : "हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन : "डा. मनीषा ठक्कर : पृ. २३४-२३५ ।

(53) और (54) : दृष्टव्य : चाक : पृ. क्रमशः १०३-१०४, १०४ ।

(55) "मैत्रेयी पुष्पा : तथ्य और सत्य" : मधुरेश : पृ. ६१ ।

(56) चाक : पृ. १०४ ।

(57) "मैत्रेयी पुष्पा : तथ्य और सत्य" : उदयन वाजपेयी : पृ. ६४

(58) चाक : द्वितीय मुखपृष्ठ से ।

(59) ज्ञानरंजन : द्वितीय मुखपृष्ठ से ।

(60) सूखे सेमल के वृन्तों पर : डा. पारूकान्त देसाई : पृ. ६२ ।

(61) झूला नट : मैत्रेयी पुष्पा : पृ. ६२-६३ ।

(62) दृष्टव्य : झूलानट : मैत्रेयी पुष्पा : पृ. ६३ ।

(63) दृष्टव्य : डा. सुमा वी. राव तथा डा. शोभा यशवंते : ग्रन्थ क्रमशः मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों में मानवीय संवेदना" और "मैत्रेयी पुष्पा के कथा-साहित्य में नारी-जीवन" ।

(64) दृष्टव्य : झूलानट : पृ. ७४ ।

(65) से (69) : झूलानट : पृ. क्रमशः १०८, ११२, ११३, ११३११३, ७२-७३ ।

(70) मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों में मानवीय संवेदना : डा. सुमा वी. राव : पृ. १३० ।

(71) झूलानट : भूमिका से ।

(72) वही : पृ. ८४ ।

(73) दृष्टव्य : "मैत्रेयी पुष्पा : तथ्य और सत्य : पृ. ३२-३६ ।

(74) उपरिवत् : पृ. ३२ ।

(75) हिन्दी उपन्यास का इतिहास : डा. गोपालराय : पृ. ३८८-३८९

(76) दृष्टव्य : चितनिका : डा. पारूकान्त देसाई : पृ. १०९ ।

(77) हिन्दी उपन्यास का इतिहास : डा. गोपालराय : पृ. ३९०

(78) दृष्टव्य : गुडिया भीतर गुडिया : मैत्रेयी पुष्पा : पृ. २७९

(79) अल्मा कबूतरी : मैत्रेयी पुष्पा : द्वितीय मुखपृष्ठ से ।

(80) See : Writers at work, First series (1958) P. 60

(81) दृष्टव्य : अल्मा कबूतरी : पृ. १०३ ।

(82) हिन्दी उपन्यास का इतिहास : पृ. ३९० ।

(83) दृष्टव्य : डा. रोहिणी अग्रवाल : "मैत्रेयी पुष्पा : तथ्य और सत्य" : पृ. ३९-४३ ।

(84) दृष्टव्य : हिन्दी उपन्यासं का इतिहास : पृ. ३८९ ।

(85) वही : पृ. ३८९ ।

(86) अल्मा कबूतरी : पृ. १०४ – १०५ ।

(87) डा. रोहिणी अग्रवाल : "मैत्रेयी पुष्पा : तथ्य और सत्य" : पृ. ४२ ।

(88) दृष्टव्य : "हिन्दी में आदिवासी जीवन केन्द्रित उपन्यासों का समीक्षात्मक अध्ययन : डा. बी.के. कलासवा : पृ. २२१-२५४।

(89) गुड़िया भीतर गुड़िया : मैत्रेयी पुष्पा : पृ. २७९-२८०।

(90) वही : पृ. २८२

(91) दृष्टव्य : अगनपाखी : मैत्रेयी पुष्पा : पृ. ५३।

(92) दृष्टव्य : सुश्री अनंत विजय : मैत्रेयी पुष्पा : तथ्य और सत्य : पृ. ६४।

(93) से (96) : अगनपाखी : पृ. क्रमशः १७५, १०१-१०२, ७, ७।

(97) "मैत्रेयी पुष्पा : तथ्य और सत्य" : लेख-स्त्री अस्मिता के सती और संपत्ति : डा. अनंत विजय : पृ. ६८।

(98) वही : पृ. क्रमशः ६९-७१, ७१-७६।

(99) अगनपाखी : भूमिका – पुनर्नवा : पृ. ५ – ६।

(100) Compct Oxford reference Dictionary : Pg. 943

(101) आधुनिक हिन्दी कालजयी साहित्य : डा. अर्जुन चव्हाण : पृ. २०२।

(102) और (103) वही : पृ. क्रमशः २०२, २०२।

(104) विज़न : मैत्रेयी पुष्पा : पृ. ३३।

(105) से (108) : विज़न : पृ. क्रमशः १७१, २१२, ८५, १७५।

(109) आधुनिक हिन्दी कालजयी साहित्य : डा. अर्जुन चव्हाण : पृ. २०४।

(110) सूखे सेमल के वृन्तों पर : डा. पारूकान्त देसाई : पृ. ८७।

(111) कही ईसुरी फाग : मैत्रेयी पुष्पा : पृ. ३३६।

(112) से (113) : वही : पृ. क्रमशः ३३८, ३३८।

(114) दृष्टव्य : लेख - जितेन्द्र श्रीवास्तव : "अपने मन जैसा जीवन जीने की लालसा : हंस-नवम्बर-२००४ : पृ. ९२।

(115) दृष्टव्य : कही ईसुरी फाग : पृ. १५ ।

(116) वही : प्रथम मुखपृष्ठ से ।

(117) डा. रवीन्द्र त्रिपाठी : लेख - सर्जक से आगे सृजन : हंस : नवम्बर : २००४ : पृ. ९० ।

(118) कही ईसुरी फाग : लेखकीय वक्तव्य से ।

(119) से (121) वही : पृ. क्रमशः २६१, ३०६ – ३०७ ।

(122) लेख - "अपने मन जैसा जीवन जीने की लालसा : जितेन्द्र श्रीवास्तव : हंस : नवम्बर-२००४ : पृ. ९३ ।

(123) कही ईसुरी फाग : पृ.

(124) "१२२" के अनुसार : पृ. ९३ ।

(125) दृष्टव्य : डा. रोहिणी अग्रवाल : "स्त्री-लेखन : स्वप्न और संकल्प" : पृ. ३०५ ।

(126) कही ईसुरी फाग : लेखकीय वक्तव्य से ।

(127) वही : दूसरे मुखपृष्ठ से ।

(128) वही : पृ. ५४ ।

(129) कविता : "त्रिया हठ" का सच " : हंस : सितम्बर-२००६ : पृ. ८९ ।

(130) त्रिया-हठ : मैत्रेयी पुष्पा : पृ. १७० ।

(131) दृष्टव्य : वही : पृ. १७ ।

(132) कविता – "१२९" के अनुसार : पृ. ९० ।

(133) उदृत द्वारा : डा. अनिला पटेल : "हिन्दी महिला कथाकारों के साहित्य में नारी-विमर्श : संपादक द्वय – डा. दिलीप मेहरा तथा डा. प्रतीक्षा पटेल, पृ. २०८ ।

(134) से (137) : त्रिया-हठ : मैत्रेयी पुष्पा : पृ. क्रमश : ११८, ११८, १२९, १४४

(138) हंस : सितम्बर-२००६ : पृ. ९०

(139) प्रकाशकीय वक्तव्य : गुनाह-बेगुनाह : मैत्रेयी पुष्पा : प्रथम फ्लेप से ।

(140) वही

(141) गुनाह-बेगुनाह : पृ. १८२ :

(142) "मैत्रेयी पुष्पा : तथ्य और सत्य" : लेख - "फाइटर की डायरी के बहाने कुछ जरूरी सवाल" : राकेश बिहारी : पृ. २५७ ।

(143) हंस : सितम्बर-२०११ : आलेख - "उन लड़कियों को सलाम" सुरेश पंडित : पृ. ७५ ।

(144) वही : पृ. ७५

(145) "मैत्रेयी पुष्पा : तथ्य और सत्य" : पृ. २५७ ।

(146) दृष्टव्य : हंस : सितम्बर-२०११ : पृ. ७५ ।

(147) से (153) : गुनाह-बेगुनाह : पृ. क्रमशः ११, १४१, २८१, २८१, ६६, ७८, ७७ ।

(154) देखिए संदर्भ टिप्पणी नं. १४१ अथवा "गुनाह-बेगुनाह" पृ. १८२ ।

(155) दृष्टव्य : पृ. ३४, ५६, १२४, २५१ ।

(156) से (165) : गुनाह-बेगुनाह : पृ. क्रमशः २७, ३१, ३७, ५५, ७५, ८७-९०, १०३, १३६-१३७, २७७, २०९ ।

(166) से (169) : वही : पृ. क्रमशः २६१, २८२, २१६, १७५-१७६ ।

(170) हंस : दिसम्बर-२०१२ : पृ. ३ ।

===== X X X X =====